卐 जैनं जयति शासनम् 卐

।। श्री महावीराय नमः।।

✡ श्रीमत्-सुदर्शन-गुरवे नमः ✡

पच्चीस बोलः

बड़े अनमोल

जय जिनशासन प्रकाशन

दिल्ली

गुरु मदन स्तुति

जिनकी ज्ञान-प्रभाओं से, प्रत्येक दिशा आलोकित है,
जिनके भाषण से मिथ्या मति, कितनी हुई निराकृत है।
धर्म-चरण की दृढ़ता दी, जिनके संयम ने जन-जन को,
उमड़ा मन गुरुवर वाचस्पति, मदन मुनि के वन्दन को।।

गुरु सुदर्शन स्तुति

निज पवित्र चारित्र के कारण, गुरुवर-सा पाया गौरव,
है समाज-जागृति का कारण, जिनके प्रवचन का सौष्ठव।
तुच्छ लाभ के लिए शिथिलता, संयम में न जिन्हें भाई,
उन श्रद्धेय सुदर्शन गुरुवर, की सेवा है सुखदाई।।

'जय जिनशासन प्रकाशन' का प्रथम पुष्प

卐 जैनं जयति शासनम् 卐

॥ श्री महावीराय नमः ॥

★ श्रीमत्-सुदर्शन-गुरवे नमः ★

पच्चीस बोलः बड़े अनमोल

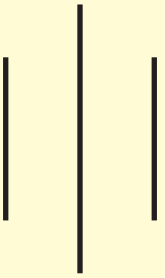

सम्पादक : कमल जैन, मेरठ

: प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान :

जय जिनशासन प्रकाशन

रवीन्द्र जैन (मो0 9810287446)

212, वीर अपार्टमैण्ट, सैक्टर 13, रोहिणी, दिल्ली - 85

Email : jaijinshaasanprakaashan@gmail.com

अनुक्रमणिका

क्र॰सं॰	विवरण	पेज नं॰
1.	पहले बोले : गति चार	01–04
2.	दूसरे बोले : जाति पाँच	05–06
3.	तीसरे बोले : काय छह	07–11
4.	चौथे बोले : इन्द्रिय पाँच	12–13
5.	पाँचवें बोले : पर्याप्ति छह	13–14
6.	छठे बोले : प्राण दस	15–16
7.	सातवें बोले : शरीर पाँच	17–19
8.	आठवें बोले : योग पन्द्रह	20–23
9.	नौवें बोले : उपयोग बारह	23–27
10.	दसवें बोले : कर्म आठ	28–32
11.	ग्यारहवें बोले : गुणस्थान चौदह	33–41
12.	बारहवें बोले : पाँच इन्द्रियों के 23 विषय एवं 240 विकार	42–44
13.	तेरहवें बोले : मिथ्यात्व के दस भेद	45–48
14.	चौदहवें बोले : छोटी नव तत्व के 115 भेद	49–65
15.	पन्द्रहवें बोले : आत्मा आठ	66–68
16.	सोलहवें बोले : दण्डक चौबीस	68–71
17.	सत्रहवें बोले : लेश्या छह	72–74
18.	अठारहवें बोले : दृष्टि तीन	75–76
19.	उन्नीसवें बोले : ध्यान चार	77–78
20.	बीसवें बोले : षट् द्रव्य के तीस भेद	79–82
21.	इक्कीसवें बोले : राशि दो	83–85
22.	बाईसवें बोले : श्रावक के बारह व्रत	86–88
23.	तेईसवें बोले : साधुजी के पाँच महाव्रत	89–90
24.	चौबीसवें बोले : प्रत्याख्यान के 49 भांगे	90–94
25.	पच्चीसवें बोले : चारित्र पाँच	94–96

सम्पादकीय निवेदन

जैन धर्म की मूलभूत जानकारी के लिए सर्वप्रथम 'पच्चीस बोल के स्तोक' (थोकड़े) की जानकारी दी जाती है। भारतवर्ष में इस विषय की बहुत–सी पुस्तकें उपलब्ध हैं और उनके अध्ययन से पच्चीस बोल की आधारभूत जानकारी भी हो जाती है, परन्तु इस स्तोक में अनेक विषय ऐसे हैं, जिनकी परिभाषाएं या भेद, याद होने के बावजूद भी उनका सही–सटीक स्वरूप मन–मस्तिष्क में नहीं बैठ पाता। अतः आवश्यकता महसूस होती थी, किसी ऐसी व्याख्या की, जिसमें पच्चीस बोल के मूल पाठ के अलावा, प्रचलित उदाहरणों और विज्ञान–सम्मत निष्कर्षों से तुलना करने पर, सारे विषय का सर्वांगीण स्वरूप दिमाग में स्थिर बैठ सके।

सौभाग्य से मेरी श्रद्धा, आशा और आस्था के केन्द्र संघ–शास्ता पूज्य गुरुदेव श्री सुदर्शन लाल जी म.सा. के गुरु–भ्राता प्रज्ञा–महर्षि आगम–ज्ञान–रत्नाकर भगवन् श्री रामप्रसाद जी म.सा. एवं गुरुदेव के सुशिष्य बहुश्रुत विद्वद्–रत्न श्री जय मुनि जी म.सा. द्वारा लिखित, 25 बोल की अलग–अलग दो व्याख्याएं देखने में आई। दोनों व्याख्याएं इतनी सरल, सुन्दर और रुचिकर थी कि मस्तिष्क की गहन गुत्थियों को तो सुलझाती ही थी, किसी मनोरम धारावाहिक की तरह आनन्ददायी भी थी। मेरा विचार बना, कि क्यों न इन दोनों को मणि–कांचन–संयोग की तरह, एक स्थान पर एकत्र करके जिज्ञासुओं को परोसा जाए। सारे विषय को और अधिक सुगम और रुचिपूर्ण बनाने के लिए 'श्री दिवाकर प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित और महाश्रमणी श्री विजयश्री जी म.सा. 'आर्या' द्वारा लिखित 'सचित्र पच्चीस बोल' से भी, प्रत्येक बोल में चित्र ग्रहण करके प्रकाशित किए गए हैं। हम इनका भी सादर आभार व्यक्त करते हैं।

इस अवसर पर मैं आभार व्यक्त करूँगा– गुरु–सुदर्शन–संघ के पूज्य महामुनिराजों – गणाधीश तपस्वीराज श्री प्रकाश चन्द्र जी म.सा., संघ–आधार पूज्य श्री विनय मुनि जी म.सा., बहुश्रुत पूज्य श्री जय मुनि जी म.सा., संघ–संचालक पूज्य श्री नरेश मुनि जी म.सा. आदि तथा 'श्री सुन्दरी – शान्ति – साध्वी – संघ' की प्रमुखा श्री संयम प्रभा 'कमल' जी म. आदि का भी, जिन्होंने गुरुदेव श्री जय मुनि जी म. के संसार–पक्षीय भ्राता श्री राधेश्याम जी जैन एवं श्री रवीन्द्र जैन को, संघ–समाज के लिए उपयोगी कुछेक पुस्तकों को, 'जय जिन–शासन–प्रकाशन' के नाम से प्रकाशित कराने की सहमति प्रदान की। इस प्रकाशन के माध्यम से सम्पूर्ण भारत, विशेषकर उत्तर भारत के श्रद्धा–शील तत्त्व–जिज्ञासुओं को, गागर में सागर न्याय से, जैनत्व की अनमोल सामग्री, सहज रूप में प्राप्त हो सकेगी। साथ ही यह भी एक व्यवस्था बनाई गई है कि कोई भी इच्छुक दानी सज्जन, अपने नाम से, इन पुस्तकों का प्रकाशन, मात्र Printing Cost देकर (पुस्तकों की न्यूनतम संख्या 1000) प्रकाशित करा सकेगा और धर्म–दलाली का अर्जन कर सकेगा।

आशा है, सुधी पाठक इस प्रकाशन का अधिकाधिक पठन–पाठन करके हमारे श्रम को सफल करेंगे।

जय जिनेन्द्र

कमल जैन, मेरठ

पच्चीस बोलः आधार–स्थल

1. गति णामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा!
चउव्विहे पण्णते, तं जहा–णिरयगतिणामे,
तिरयगतिणामे, मणुयगतिणामे, देवगतिणामे। (पण्णवणा, पद 23, सू. 39)
2. पंच विधा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा–
एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पचिंदिया। (ठाणं, 5/204)
3. छज्जीवणिकाया पण्णत्ता, तं जहा–
पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया,
तसकाइया। (ठाणं 6/6)
4. कति णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंच इंदिया पण्णत्ता,
तं जहा–सोइंदिए, चक्खिंदिए, घाणिंदिए, जिब्भिंदिए, फासिंदिए।
(पण्णवणा, पद 15, सू. 1)
5. आहारपज्जत्तीए, सरीरपज्जत्तीए, इंदियपज्जत्तीए, आणापाणुपज्जत्तीए,
भासापज्जत्तीए, मणपज्जत्तीए। (भगवई 3/1/17)
6. प्राण दस। (ठाणं 10/68)
7. पंच सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा–ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए,
कम्मए। (ठाणं, 5/25)
8. कतिविहेणं भंते ! जोए पण्णत्ते ? गोयमा ! पण्णरसविहे जोए पण्णत्ते तं जहा
– 1. सच्चमण जोए 2. मोसमण जोए 3. सच्चामोसमण जोए, 4.
असच्चामोसमण जोए 5. सच्चवइ जोए 6. मोसवइ जोए 7. सच्चामोसवइ
जोए 8. असच्चामोसवइ जोए 9. ओरालियसरीरकाय जोए 10.
ओरालियमीसासरीरकाय जोए 11. वेउव्वियसरीरकाय जोए 12.
वेउव्वियमीसासरीरकाय जोए 13. आहारगसरीरकाय जोए 14.
आहारगमीसासरीरकाय जोए 15. कम्मासरीरकाय जोए। (भगवई 25/6)
9. सागारोवओगे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते, तं
जहा – 1. आभिणिबोहियणाणसागारोवओगे, 2. सुयणाण 3. ओहिणाण 4.
मणपज्जवणाण 5. केवलणाण 6. मति अण्णाण 7. सुय अण्णाण 8.
विभंगणाण।
अणगारोवओगे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तं
जहा – 9. चक्खुदंसणअणागारोवओगे 10. अचक्खुदंसण 11. ओहिदंसण 12.
केवलदंसण (पण्णवणा, पद 29, सू. 2, 3)
10. कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ
पण्णत्ताओ, तं जहा–णाणावरणिज्जं, दंसणावरणिज्जं, वेदणिज्जं,
मोहणिज्जं, आउयं, णामं, गोयं, अंतराइयं। (पण्णवणा, पद 23, सू. 1)
11. कम्मविसोहि मग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता, त्तं जहा–
मिच्छादिट्ठी, सासायणसम्मदिट्ठी, सम्ममिच्छादिट्ठी, अविरयसम्मदिट्ठी,
विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, णियट्टिबायरे, अनियट्टिबायरे,
सुहुमसंपराए, उवसमए वा, खवए वा, उवसंतमोहे, खीणमोहे, सजोगी केवली,
अजोगी केवली। (समवाओ 14/5)
12. पाँच इन्द्रियों के 23 विषय। (पण्णवणा)
13. दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा–अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा,
अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे अमग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु
अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा,
मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। (ठाणं, 10/74)
14. जीव के 14 भेद समवायांग 14, सू. 1
अजीव के 14 भेद पण्णवणा 1/3/36
पुण्य तत्त्व के 9 भेद ठा. 9, सू. 25
पाप के 18 भेद भ. 1, उ. 9
आस्त्रव के भेद ठा. 5/24
संवर के भेद ठा. 5/25
निर्जरा के 12 भेद भ. 25/7
मोक्ष तत्त्व के 4 भेद उ. 28/2
15. कति विहा णं भंते ! आया पण्णत्ता ? गोयमा ! अट्ठविहा आया पण्णत्ता, तं
जहा–दवियाया, कसायाया, जोगाया, उवओगाया, नाणाया, दंसणाया,
चरित्ताया, वीरियाया। (भगवई 12/10/200)
16. एगा णेरयाणं वग्गणा, एगा असुर कुमाराणं वग्गणा चउवीसदंडओ जाव एगा
वेमाणियाणं वग्गणा। (ठाणं 1, सू. 141–164)
17. कति णं भंते ! लेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा छल्लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा
–कण्हेलेस्सा णील.....काउ.....तेउ.....पम्ह.....सुक्कलेससा।
(पण्णवणा, पद 17, सू.....36)
18. तिविधा णेरइया पण्णत्ता, तं जहा–सम्मादिट्ठी, मिच्छादिट्ठी
सम्मामिच्छादिट्ठी। (ठाणं 3/370)
19. चत्तारि झाणा पण्णत्ता, तं जहा–अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के
झाणे। (समवाओ 4/60)
20. धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं।।
धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जंतवो।। (उत्त. 28/7–8)
21. दुवे रासी पण्णत्ता, तं जहा–जीव रासी चेव, अजीव रासी चेव।
(समवाओ, 2/2)
22. श्रावक के बारह व्रत (उवासगदसा, अ. 1/32–43)
23. पंच महव्वया पण्णत्ता, तं जहा–
सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं
सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं
सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं
सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं
सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं (ठाणं 5/1)
24. भांगा 49 (भग. 8/5/237)
25. पंचविधे संजमे पण्णत्ते, तं जहा–सामाइयसंजमे, छेदोवट्ठावणियसंजमे,
परिहारविसुद्धियसंजमे, सुहुमसंपराग–संजमे, अहक्खायचरित्तसंजमे।
(ठाणं 5/139)

"नमो सुदंसणस्स"

पच्चीस बोल : बड़े अनमोल

किसी भी भाषा को सीखने से पहले उसकी वर्णमाला सीखी जाती है, जो कि उस भाषा का आधार होती है। इसी प्रकार जैन दर्शन की जानकारी के लिए, आचार्यों ने जैन शास्त्रों तथा अन्य जैन साहित्य में स्थान–स्थान पर वर्णित जैन दर्शन की मूल तात्त्विक जानकारियों, विशिष्ट शब्दों की परिभाषाओं एवं उनकी व्याख्याओं को, एक स्थान पर एकत्र करके 'पच्चीस बोल के थोकड़े' का सृजन किया है। थोकड़ों को जैन शास्त्रों की कुंजी भी कहा जाता है, क्योंकि थोकड़ों में विस्तृत तत्त्वों का एक ही स्थान पर, संक्षेप में संग्रह हो जाता है। उनकी जानकारी के बाद शास्त्रों के विषयों को हम भली–भाँति समझ सकते हैं। प्रत्येक बोल में किसी एक सिद्धांत, परिभाषा या व्याख्या को बताया गया है। इस प्रकार 25 बोलों में कुल 25 सिद्धांतों के विषय में बताया गया है।

1. पहले बोले : गति चार

1. नरक गति, 2. तिर्यंच गति, 3. मनुष्य गति, 4. देव गति।

जिस प्रकार किसी एक बात को, अलग–अलग पहलुओं के आधार पर, अनेक प्रकार से कहा जा सकता है, उसी प्रकार संसार के जीवों को, विभिन्न दृष्टियों से, कई भागों में बाँटा जा सकता है। जैसे भारत में रहने वाले मनुष्यों की संख्या वर्तमान में लगभग 135 करोड़ है। उन सबको एक शब्द में समेटना हो, तो मात्र 'भारतीय' कहने से काम चल जायेगा। अब अलग–अलग गुणों, दृष्टिकोणों और विशेषताओं के आधार पर उसी 'भारतीय' शब्द के कई भेद किए जा सकते हैं। सर्वप्रथम तो स्त्री–पुरुष, आगे जाति, धर्म, सम्प्रदाय, साक्षर–निरक्षर, गरीब–अमीर आदि भिन्न–भिन्न वर्ग बनाए जा सकते हैं। सब का मकसद एक ही बात को अनेक पहलुओं से समझाना है।

इसी प्रकार एक तत्त्व के, उसके अलग–अलग गुणों, शक्तियों, कमियों व विशेषताओं के आधार पर अलग–अलग वर्ग बनाए जा सकते हैं। संसारी जीवों के भी जो वर्ग, पच्चीस बोल में हमें प्राप्त हैं, वे हैं –

गति, जाति, काय, इंद्रिय, पर्याप्ति, शरीर, गुणस्थान, दंडक आदि।

इनमें प्रत्येक वर्ग का वर्गीकरण उस वर्ग के नाम के अनुसार, जीवों में उपलब्ध गुणों के आधार पर किया गया है। इनमें पहला बोल है – गति चार, जिसकी व्याख्या इस प्रकार है –

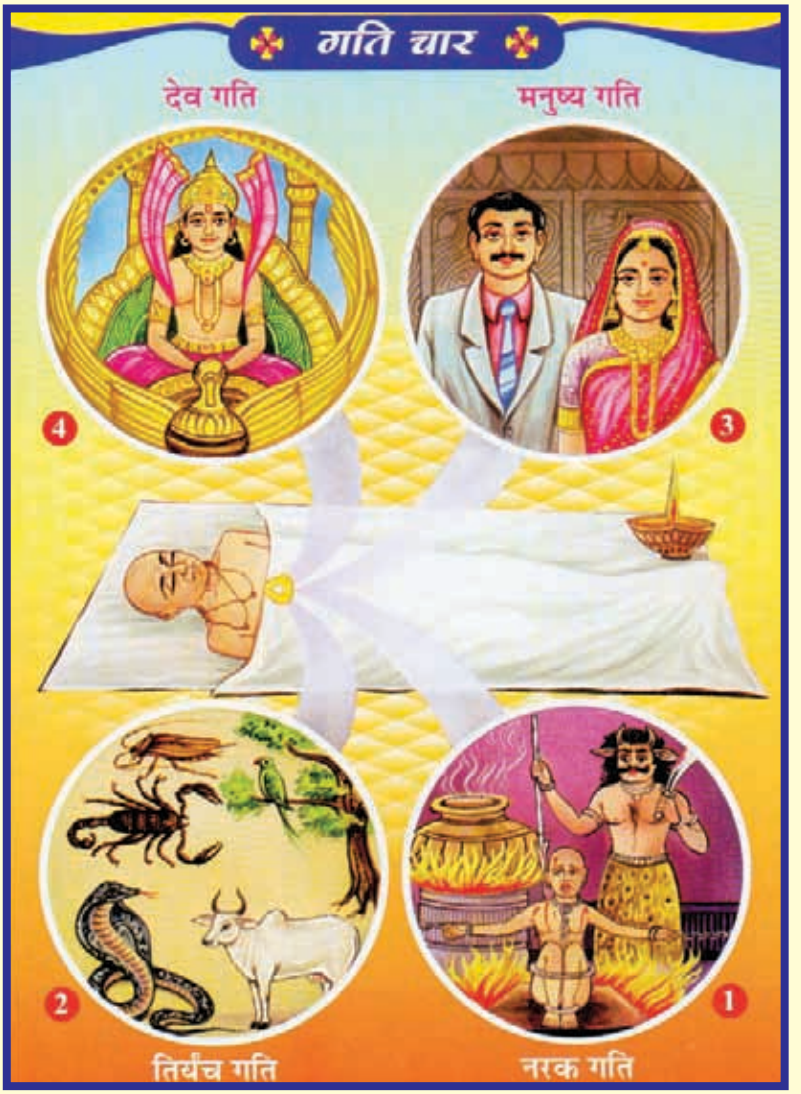

यह जीवों का सबसे साधारण किस्म का वर्गीकरण है। किन्हीं एक प्रकार के जीवों को मुख्यतया जो नाम दिया जाता है, वह गति है। इसका शाब्दिक तथा सबसे प्रचलित अर्थ तो यह है कि मरने के बाद जीव, जहाँ जाकर जन्म लेता है, उसे गति कहते हैं। इसी बात को साधारण शब्दों में इस प्रकार समझ सकते हैं कि मरने के बाद जीव जहाँ–जहाँ जन्म ले सकता है, उसको मुख्य–मुख्य गुण–दोषों के आधार पर 'गति' का नाम दिया है और उसे चार वर्गों में बाँटा गया है। जैसे –

गति का प्रथम भेद–नरक गति – अत्यन्त पापी जीव, मरने के बाद, अपने दुःखों को भोगने के लिए, इस लोक के निचले भाग में जाकर जन्म लेते हैं। वहाँ पर केवल दुःख ही दुःख है। जैसे वर्तमान शासन–व्यवस्था में किसी गंभीर अपराधी को, अलग स्थान पर, विशेष रूप से बनाए गए कारागृह में रखा जाता है। वहाँ पर वह अपने किए गए दुष्कृत्य की सजा काटता है,

तथा विभिन्न प्रकार के अभाव एवं कष्ट झेलता है। उसी प्रकार कर्म–व्यवस्था के अंतर्गत, पापी जीव मरकर, जिस कष्ट–पूर्ण भूमि में जन्म लेते हैं, उसे 'नरक' तथा वहाँ के निवासियों को 'नेरिया', 'नारकी' या 'नैरयिक' कहा जाता है। उर्दू में नरक को दोजख़ तथा अंग्रेजी में Hell कहते हैं। नरकों की भौगोलिक स्थिति तथा कष्टों की मात्रा आदि के आधार पर नरक के भी क्रमशः सात भेद हो जाते हैं, जिनका विस्तार 16वें बोल में प्राप्त होगा। केवल तिर्यंच या मनुष्य–गति के जीव ही मरकर नरक में उत्पन्न हो सकते हैं, नारकी या देवता नहीं।

नरक गति में जाने के मुख्यतया चार कारण हैं –

1. महाआरम्भ करना – छह काया के जीवों की ज्यादा हिंसा वाले कार्य करना।
2. अत्यधिक परिग्रह (संग्रह) करना।
3. पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना।
4. मांसाहार (तथा मद्य आदि सभी नशों का सेवन करना)।

गति का दूसरा भेद – तिर्यंच गति – संपूर्ण पशु–पक्षियों, कीड़ों–मकोड़ों तथा स्थावरों (अर्थात् जो जीव चल–फिर नहीं सकते; जैसे – जीवित मिट्टी, पानी, वायु, अग्नि) और संपूर्ण वनस्पति जगत को 'तिर्यंच गति' भेद के अंतर्गत रखा गया है। कई बार तिर्यंच का अर्थ मात्र पशुओं या पक्षियों से लगा लिया जाता है, जो कि सही नहीं है। बड़े साधारण ढंग से कहना हो, तो हम कह सकते हैं कि आमतौर पर इस पृथ्वी पर मानव–जाति के अलावा जो भी जीव हैं, वे सब तिर्यंच गति के अंतर्गत रखे गए हैं। प्राणी विज्ञान में इसे 'किंगडम' शब्द से जाना जाता है, तथा अंग्रेजी भाषा के अनुसार सम्पूर्ण तिर्यंच गति का समावेश Biology (Animals & Plants) में हो जाता है। शाब्दिक व्याख्या करनी हो, तो इसका अर्थ है तिर्यक् अर्थात् तिरछा। रीढ़ की हड्डी ऊपर की ओर न बढ़कर, नीचे या दाएँ–बाएँ बढ़ने वाली शरीर– संरचना को तिर्यंच कहते हैं। इसके 48 भेद होते हैं। चारों ही गति के जीव मरकर तिर्यंच में उत्पन्न हो सकते हैं। तिर्यंच गति में जाने के मुख्यतया चार कारण हैं –

1. माया करना – छल–कपट करना।
2. गूढ़ माया करना – शठता और दुष्टता।
3. झूठ बोलना या झूठा आरोप लगाना।
4. नाप–तोल आदि में बेईमानी करना।

गति का तीसरा भेद – मनुष्य गति – सम्पूर्ण मानव–जाति पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक

इस भेद के अंतर्गत आते हैं। मनुष्य चिंतन–प्रधान प्राणी है। मननशील होने के कारण इसको मनुष्य कहते हैं। 21वें बोल में मनुष्य के 303 भेद प्राप्त होते हैं। मनुष्य–गति के विस्तार की ज्यादा आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हम सब मनुष्य गति में होने के कारण इससे भली–भाँति परिचित हैं। अंग्रेजी के Human Being (ह्यूमन बीइंग) शब्द में इसका समावेश हो जाता है। चारों ही गति के जीव मरकर मनुष्य गति में उत्पन्न हो सकते हैं।

मनुष्य गति में जाने के मुख्यतया चार कारण हैं –

1. स्वभाव में मृदुता (सरलता) होना।
2. विनयवान् होना।
3. सब जीवों पर दया, करुणा रखना।
4. ईर्ष्या व द्वेष–रहित स्वभाव होना।

गति का चौथा भेद–देव गति – जिस प्रकार पापी जीवों के पाप–कर्म भोगने का स्थान अधोलोक में (लोक के निचले हिस्से में) नरक भूमि है, उसी प्रकार, उसके विपरीत, अच्छे कर्म करने वाले, पुण्यकारी तथा धर्म–ध्यान में लीन जीव, अपने शुभ कर्मों का सुख भोगने के लिए देवता के रूप में जन्म लेते हैं। ऐसे सभी देवताओं को 'देव गति' के अंतर्गत वगीकृत किया जाता है। यद्यपि देवताओं की कुछ जातियाँ अधोलोक में भी रहती हैं, परंतु मुख्यतया इनको ऊर्ध्वलोक (लोक का ऊपरी हिस्सा) का वासी कहा जाता है। दिव्य, सुंदर रूप धारण करने वाले, विभिन्न शक्तियों के स्वामी तथा विभिन्न रूप बना लेने वाले को हम साधारणतया 'देव' नाम से जानते हैं। यद्यपि देव–दर्शन आज के समाज में लगभग असंभव हैं, परंतु टी.वी. चैनलों पर चल रहे विभिन्न धार्मिक कथानकों से, हमें इनका काफी कुछ आभास (Idea) हो जाता है। केवल तिर्यंच या मनुष्य–गति के जीव ही मरकर देव गति में उत्पन्न हो सकते हैं, नारकी या देवता नहीं।

देव गति में जाने के मुख्यतया चार कारण है –

1. सराग–संयम – संयम का पालन करते हुए भी मोह, राग रखना।
2. देश–संयम – गृहस्थ में रहते हुए व्रतों का पालन करना।
3. बाल–तप – अज्ञान–पूर्वक तप करना।
4. अकाम–निर्जरा – कर्मों को नष्ट करने की भावना रखे बिना कष्ट सहन करना।

2. दूसरे बोले : जाति पाँच

1. एकेन्द्रिय, 2. बेइन्द्रिय, 3. तेइन्द्रिय, 4. चउरिन्द्रिय, 5. पंचेन्द्रिय

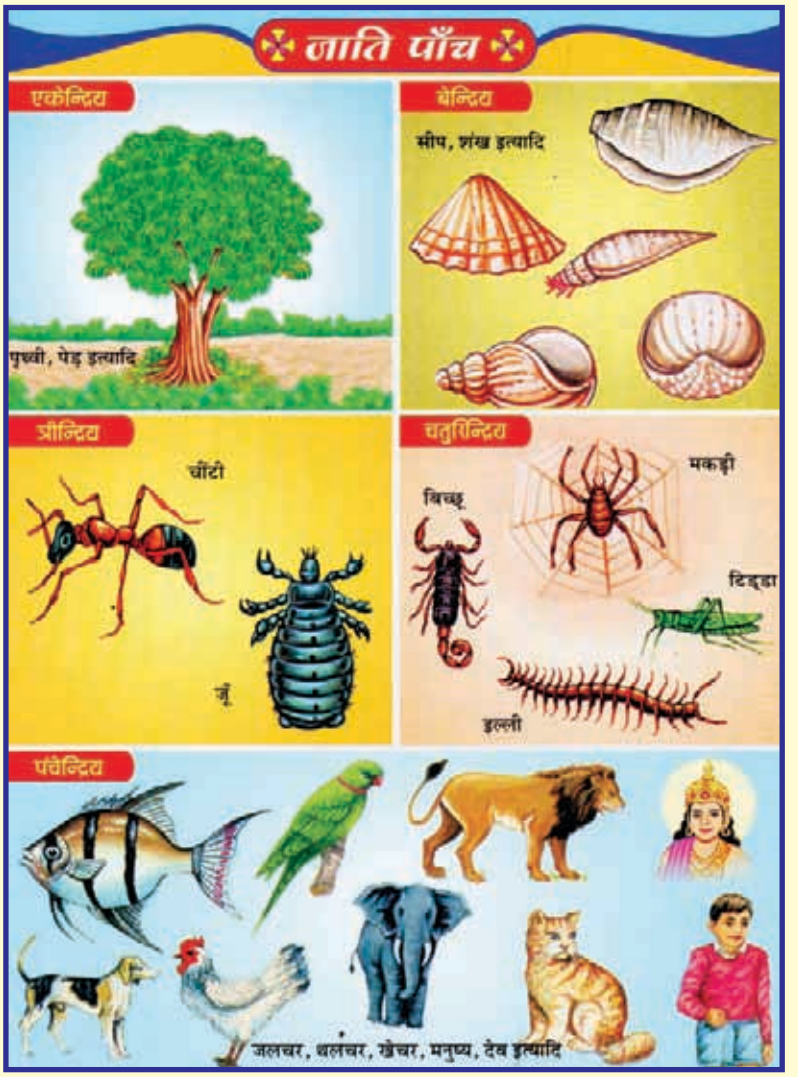

प्रथम बोल में हमने जीवों के वर्गीकरण 'गति' के विषय में चर्चा की। अब इन्द्रियों के आधार पर किए गए वर्गीकरण 'जाति' के विषय में चर्चा करेंगे। वैसे तो जाति का अर्थ समूह होता है। साधारण बोलचाल में जाति का जो अर्थ, सांस्कृतिक या धार्मिक आधार पर किया जाता है; जैसे – हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख आदि, यहाँ पर जाति का वह अर्थ नहीं है। जाति का अर्थ 'समूह' होने के कारण कई और स्थानों पर भी जाति शब्द लगा हुआ मिल जाता है; जैसे – मनुष्य जाति आदि। परंतु यहाँ पर जाति का यह अर्थ भी नहीं है। पच्चीस बोल की दृष्टि से जाति का अर्थ है – इन्द्रियों के आधार पर जीवों का वर्गीकरण। समान इन्द्रिय वाले जीवों के समूह को 'जाति' कहते हैं, क्योंकि कुल इन्द्रियाँ 5 (कान, आँख, नाक, जीभ व त्वचा) हैं, अतः इन्द्रियों की न्यूनाधिकता के आधार पर जाति भी 5 प्रकार की कही

गई हैं। जिसमें केवल एक इन्द्रिय हो, वे एकेन्द्रिय जाति के जीव, जिनमें दो इन्द्रियाँ हों, वे बेइन्द्रिय या द्विइन्द्रिय जाति के जीव, जिनमें तीन इन्द्रियाँ हों, वे तेइन्द्रिय जाति के जीव, जिनमें चार इन्द्रियाँ हों, वे चउरिन्द्रिय जाति के जीव तथा जिनमें पाँचों इन्द्रियाँ हों, वे पंचेन्द्रिय जाति के जीव कहलाते हैं। पाँच इन्द्रियों का वर्णन हम चौथे बोल में पढ़ेंगे। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि एकेन्द्रिय का अर्थ यह नहीं, कि पाँचों में से कोई भी एक इन्द्रिय हो। नियम यह है कि इन्द्रियों की उपलब्धता क्रमशः पाँचवें नम्बर से पहले नम्बर तक होती है। अर्थात् एकेन्द्रिय में मात्र पाँचवीं ही इन्द्रिय होगी, बेइन्द्रिय में नियम से पाँचवीं तथा चौथी, तेइन्द्रिय में नियम से पाँचवीं, चौथी तथा तीसरी, चउरिन्द्रिय में नियम से पाँचवीं, चौथी, तीसरी तथा दूसरी और पंचेन्द्रिय में पाँचवीं से पहली तक पाँचों इन्द्रियाँ।

पाँचों जातियों के कुछ जीवों के उदाहरण इस प्रकार हैं –

1. एकेन्द्रिय – मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति।
2. बेइन्द्रिय – सीप, शंख, अलसिया आदि।
3. तेइन्द्रिय – जूँ, लीख, चींटी, खटमल आदि।
4. चउरिन्द्रिय – मक्खी, मच्छर, भंवरा, बिच्छू आदि।
5. पंचेन्द्रिय – मनुष्य, पशु–पक्षी, देवता और नारकी।

जीवों में ज्ञान, शक्ति तथा शरीर का विकास एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक क्रमशः अधिकाधिक होता जाता है। साधारण उदाहरण से इन्द्रिय–आधारित जाति–व्यवस्था को समझना हो, तो उसे ऐसा माना जा सकता है, जैसे धन की उपलब्धता के आधार पर हजारपति, लखपति, करोड़पति, अरबपति तथा खरबपति। इनमें पहले से आखिर तक धन– समृद्धि का जिस प्रकार उत्तरोत्तर विकास है, उसी प्रकार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक होता है।

3. तीसरे बोले : काय छह

1. पृथ्वीकाय, 2. अप्काय, 3. तेउकाय,
4. वायुकाय, 5. वनस्पतिकाय, 6. त्रसकाय

'गति' तथा इन्द्रियों की संख्या पर आधारित 'जाति', इन दो वर्गीकरणों के पश्चात् अब हम तीसरे वर्गीकरण पर आएँगे, जो कि 'काय' है। काय की व्याख्या यहाँ पर की गई है। यद्यपि इसके छह भेद हैं, परंतु मुख्यतया इसको दो भेदों में बांटा जा सकता है – 1. स्थावर, 2. त्रस।

स्थावर – 'स्थावर' का अर्थ है – 'स्थिर'। जिन जीवों को इतना हीन शरीर मिला है कि वे बिना बाह्य कारण के, केवल अपनी शक्ति के आधार पर, गति नहीं कर सकते, उन्हें 'स्थावर' कहते हैं। जैसे – जीवित मिट्टी, जीवित पानी आदि। स्थावर काय में सिर्फ एकेन्द्रिय जीव ही आते हैं।

त्रस – जो जीव एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्वयं की शक्ति से, गति कर सकते हैं, उन्हें 'त्रस' जीव कहते हैं। जैसे – कीड़े, मकौड़े, पशु–पक्षी, मनुष्य, नारकी तथा देवता। बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस ही होते हैं। 'त्रस' शब्द का व्युत्पत्ति–सिद्ध अर्थ है – डरना। अर्थात् जो जीव सर्दी, गर्मी, भूख–प्यास या किसी आक्रमण आदि बाधाओं से डरकर (त्रस्त होकर), एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन करते हैं, या कर सकते हैं, वे जीव 'त्रस' कहलाते हैं।

अब छह भेदों पर आते हैं –

1. पृथ्वीकाय – जिन जीवों का शरीर ही मिट्टी अर्थात् पृथ्वी होता है, उन्हें पृथ्वीकाय कहते हैं। जैसे – खान में मिलने वाला पत्थर, हीरा, पन्ना, नमक तथा साधारणतया 6 इंच नीचे की मिट्टी। ये सभी जीव हैं। पत्थर, नमक, मिट्टी आदि यद्यपि बाहर से हमें पत्थर, नमक आदि रूपों में दिखाई देते हैं, परंतु ये सब जीवित हैं। इनकी जो आकृति हमें दिखाई दे रही है, वह इन जीवों का शरीर है।

2. अप्काय – पानी के रूप में पैदा होने वाले जीवों को अप्काय कहते हैं। पाँचों स्थावरकाय में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिस–जिस काय के नाम से जो जीव जाना जाता है, वही उसका शरीर है। जैसे अप्काय का अर्थ साधारणतया पानी के जीव कर देते हैं, परंतु पानी के जीव का अर्थ पानी के अंदर रहने वाले जीव, जैसे – मछली, मेंढ़क, मगरमच्छ आदि नहीं होता। ये जीव पानी के अंदर रहते जरूर हैं, पर इनका शरीर पानी का नहीं होता। इसलिए ये सब अप्काय न होकर त्रस जीव हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से भले ही पानी, हाइड्रोजन गैस के 2 तथा ऑक्सीजन गैस के 1 परमाणु का यौगिक मात्र हो, परंतु जैन दर्शन के अनुसार पानी भी अपने आप में खुद जीव–रूप है। पानी नामक पदार्थ जो हमें दिखायी दे रहा है, वह उन जीवों का शरीर है, जिन्हें हम अप्काय के जीव कहते हैं। अप्काय का जब जिक्र चलता है, तो एक वैज्ञानिक उदाहरण बड़ा प्रचलित है कि वैज्ञानिक कैप्टन स्कोर्सबी ने, उच्च शक्ति के सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देखकर बताया कि पानी की एक बूंद में 36450 जीव होते हैं। आम जन इन्हीं जीवों को अप्काय जीव मान लेते हैं, जबकि ये जीव अप्काय के जीव नहीं हैं, इनको अप्काय के जीवों से भिन्न, अपना अलग शरीर मिला हुआ है। पानी की एक बूंद के अंदर हजारों की संख्या में समा जाने के कारण ऐसा आभास होता है, कि पानी की वह जरा–सी बूंद इन जीवों का ही एक पिण्ड है। परंतु नहीं, इन 36450 जीवों की तुलना, हम जल के भीतर रहने वाली मछली आदि से कर सकते हैं। अंतर इतना है कि मछली आदि का शरीर बड़ा है, जो हमें नंगी आँखों से दिखाई दे जाता है। और फिर हजारों मछलियों के लिए कई हजार लीटर पानी चाहिए, परंतु इन सूक्ष्म जीवों का शरीर इतना सूक्ष्म है कि मात्र एक बूंद के अंदर ही समा जाते हैं। हो सकता है कि वास्तविक संख्या 36450 से भी कई गुणा ज्यादा हो, जिन्हें वैज्ञानिक अभी तक पकड़ न पाए हों। जो वास्तविक अप्काय के जीव हैं, वे तो एक बूंद में असंख्याता हैं। अर्थात् असंख्याता

आत्माएँ उस एक बूंद–रूपी शरीर में समाई हुई हैं। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि अगर पानी की एक बूंद के अन्दर रहे हुये अप्काय के असंख्याता जीवों में से, प्रत्येक जीव निकल–निकलकर एक सरसों के दाने का रूप बना ले, तो एक लाख योजन (करोड़ों कि.मी.) लम्बे इस जम्बूद्वीप में भी वे सभी समा नहीं पाएँगे। इतने अधिक जीव पानी की एक जरा–सी बूंद के अंदर समाए हुए हैं।

3. तेउकाय – जैन दर्शन के अनुसार अग्नि भी तेउकाय जीवों के शरीर का पिण्ड है। अग्नि कई प्रकार की होती हैं; जैसे – अंगारे की अग्नि, ज्वाला की अग्नि, बिना धुएँ की शुद्ध अग्नि, उल्कापात रूपी अग्नि आदि। विज्ञान के विद्यार्थियों को अग्नि के शीर्षक से जो पढ़ाया जाता है, वह अग्नि वैज्ञानिक दृष्टि से जीवित न होकर, मात्र भौतिक या रासायनिक परिवर्तन की एक घटना–मात्र है (A phenomenon of physical or chemical change)] परन्तु जैन दृष्टि से, जब तक अग्नि–कण चमकते हैं, चिंगारी (Spark) या चमक (Flash) देते हैं, तब तक वे सचित्त (जीवित) माने गए हैं। इसी आधार पर जैन शास्त्रों 'उत्तराध्ययन सूत्र' एवं 'पन्नवणा सूत्र' आदि में आकाश की विद्युत् को सचित्त (जीव–युक्त) कहा गया है। उसी आधार पर वर्तमान समय में कृत्रिम रूप से तैयार की गई बिजली या विद्युत् (Electricity) भी सचित्त है और तेउकाय अथवा अग्निकाय का ही एक रूप है। पृथ्वीकाय, अप्काय या अगले भेद में आने वाले वायुकाय का सही अन्तर हमें तेउकाय से लग सकता है। ये तीनों खुद तो जीव हैं ही, वहीं इनमें अन्य त्रस जीव भी रहते हैं। जैसे–पृथ्वी में चींटी, कीड़े–मकौड़े आदि, पानी में मछली आदि, वायु में सूक्ष्म जीव तथा पक्षी आदि, परंतु अग्नि में साधारणतया कोई इस प्रकार के बाहरी जीव नहीं रहते। अग्नि की जो लपट है, वह स्वयं में तेउकाय जीवों का शरीर है; अतः सचित्त (जीवित या जीव–युक्त) कहलाती है।

4. वायुकाय – जो वायु बहती है, वह हमें मात्र स्पर्श से अनुभव होती है। पारदर्शी होने के कारण सूक्ष्मदर्शी आदि से भी दिखाई नहीं देती। यह वायु भी वायुकाय जीवों का ही पिण्ड रूप होने से सचित्त है।

5. वनस्पतिकाय – सम्पूर्ण वनस्पति–जगत्, जैसे – पेड़, फल, फूल, बीज, पत्ती, घास–फूस आदि वनस्पतिकाय का ही रूप है। लगभग 100 वर्ष पूर्व प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डॉ. जगदीश चन्द्र बसु ने अपने यंत्रों से यह सिद्ध किया था कि वनस्पति के अंदर भी जीवन है। अतः सही

मायनों में 'काय' वाले जीवों के अंतर्गत, विज्ञान केवल 'वनस्पतिकाय' जीवों को ही पकड़ पाया है, अन्य काय के जीवों को नहीं। ऊपर बताए अनुसार, विज्ञान द्वारा देखे गए पानी की बूंद के जीव, अप्काय न होकर अप्काय के अंदर रहने वाले सूक्ष्म त्रस जीव हैं।

ये पाँचों काय के जीव 'स्थावर काय' के अंतर्गत आते हैं; क्योंकि ये स्वयं गति नहीं कर सकते। यद्यपि प्रत्यक्षतः हमें जल बहता हुआ, वायु बहती हुई, अग्नि भभकती हुई दिखाई देती है, परंतु यह गति इन 'काय' के जीवों की अपनी शक्ति से नहीं, अपितु बाह्य कारणों से होती है।

इन पाँचों स्थावर कायों के शरीर जब तक जीवन से युक्त हैं, तब तक सचित्त या सजीव (Live) कहलाते हैं, तथा अग्नि या अन्य कारणों से मृत होने के बाद, अचित्त (Dead), अजीव या प्रासुक कहलाते हैं। जैन साधु–साध्वी अचित्त या प्रासुक खाद्य पदार्थ एवं वस्तुएँ ही ग्रहण कर सकते हैं। सचित्त वस्तु ग्रहण करने की बात तो दूर, सचित्त के सम्पर्क में रखी हुई अचित्त वस्तु का ग्रहण भी उनके लिए शास्त्रों में निषेध किया गया है। अचित्त मिट्टी, पानी आदि ऐसे ही हैं, जैसे एक मरे हुए प्राणी का शरीर–मात्र रह जाता है।

जैसाकि ऊपर बताया गया है कि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाए एवं वनस्पतिकाय को स्थावर काय के अंतर्गत रखा गया है। परंतु इनमें से अग्नि (तेऊ) एवं वायु, हमें सतत गतिशील नजर आती हैं। इनकी यह गति किसी दुख या कष्ट से पीड़ित होकर, सुखद स्थान पर जाने के लिए नहीं होती, जैसा कि सामान्यतया त्रस काय के जीवों में होती है। इनकी यह गति परिस्थितिजन्य अथवा स्वाभाविक गति है। इसलिए 'उत्तराध्ययन सूत्र' में व्यवहार दृष्टि से तेउकाय एवं वायुकाय को 'गति त्रस' के अंतर्गत रखा गया है, यद्यपि साधारणतया ये दोनों स्थावर काय के अंतर्गत ही आते हैं।

6. त्रसकाय – आपको ऊपर बताया जा चुका है कि सभी हलन–चलन (Movement) करने वाले व चलने–फिरने वाले जीव 'त्रसकाय' के जीव कहलाते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि एकेन्द्रिय जाति के जीव स्थावर ही होते हैं तथा बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जाति के जीव 'त्रस' जीव ही होते हैं।

जैन धर्म में छह काय के रक्षक की अवधारणा

लोक के प्रत्येक जीव का समावेश छह काया में हो जाता है। जैन धर्म को दया धर्म भी

कहते हैं। इस 'दया' शब्द का मतलब, छह काया के जीवों पर अर्थात् संसार के प्रत्येक सूक्ष्म–से–सूक्ष्म जीव पर दया करने से है। इन सभी की पूर्ण रूप से रक्षा करने के कारण, जैन साधु को छह काया का रक्षक या पीहर (पिता का घर, जहाँ जाने पर लड़की को कोई भय नहीं होता) कहा जाता है। मात्र पशु–पक्षी, मनुष्य ही हमारी हिंसा का विषय नहीं है, यह तो मात्र पचेन्द्रिय–वध है। जैन धर्म का अनुयायी इसकी तो कल्पना भी नहीं कर सकता। संसार के प्रत्येक कार्य में प्रतिक्षण इन छह काय में से, किसी न किसी काय के जीव की हिंसा की संभावना रहती है। इसलिये प्रत्येक कार्य को विवेक–पूर्वक करने की जैन धर्म में शिक्षा दी जाती है, जिससे आवश्यकतानुसार कम–से–कम ही हिंसा हो। दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन की 8वीं गाथा में बताया भी गया है –

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं ण बंधइ।।

अर्थात् यत्नापूर्वक (विवेकपूर्वक) चलने, बैठने, खड़े होने, सोने, खाने तथा बोलने से पाप कर्म का बंध नहीं होता है। इन्हीं कार्यों को अविवेकपूर्ण ढंग से करने पर पाप कर्म का बंध होता है, जिसका फल बड़ा कड़वा होता है। इसी प्रकार संसार के आवश्यक कार्यों में भी अनावश्यक हिंसा, घोर पाप–बंध का कारण है और धर्म–कार्यों को करते समय सचित्त मिट्टी, सचित्त पानी, अग्नि, वायु, घास–फूस, फल, पत्तियाँ, पुष्प, कीड़े, मकौड़े, मक्खी, मच्छर आदि की हिंसा भी हमें दुर्गति की ओर ही धकेलने का कारण बनती है।

4. चौथे बोले : इन्द्रिय पाँच

1. श्रोत्रेन्द्रिय (कान) **2. चक्षुरिन्द्रिय (आँख)** **3. घ्राणेन्द्रिय (नाक)**
4. रसनेन्द्रिय (जिह्वा) **5. स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा)**

जिस प्रकार एक मकान में बंद आदमी, खिड़की से बाहर की वस्तु देख सकता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की दीवारों में कैद आत्मा, इन्द्रिय–रूपी खिड़कियों से बाहर के ज्ञान को प्राप्त करती है। इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला ज्ञान, परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। बिना इन्द्रियों के सीधे आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय के दो भेद हैं – द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय। जो पुद्गल, आत्मा के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करने में सहयोगी बनते हैं और भिन्न–भिन्न इन्द्रियों की आकृति बनाते हैं, वे द्रव्य इन्द्रियां कहलाती हैं। द्रव्य इन्द्रिय की कार्य करने की शक्ति भाव इन्द्रिय कहलाती है। द्रव्य इंद्रिय दो प्रकार की होती है – निर्वृत्ति व उपकरण। अर्थात् एक बाहर की आकृति तथा एक अंदर की आकृति। भाव इंद्रिय भी दो प्रकार की होती है – लब्धि व उपयोग। कान का बाहर दिखाई देने वाला गोल–गोल हिस्सा 'निर्वृत्ति द्रव्य इंद्रिय' है तथा अन्दर का हिस्सा अर्थात् पर्दा 'उपकरण द्रव्य इन्द्रिय' है। इसी प्रकार सुनने की शक्ति 'लब्धि भाव इंद्रिय' और इन तीनों (निर्वृत्ति, उपकरण तथा लब्धि) से प्राप्त होने वाला ज्ञान 'उपयोग इन्द्रिय' कहलाता है। जैसाकि श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में 'सुनने का कार्य' उपयोग इन्द्रिय

है। इसी प्रकार शेष चार इन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिए। इंद्रियों के विषय में हम यह उदाहरण भी दे सकते हैं कि जैसे राजा अपने मंत्री आदि की सहायता से संपूर्ण राज्य का संचालन करता है, तथा सूचनाएँ ज्ञात करता है, उसी प्रकार आत्मा–रूपी राजा अपने पाँच इन्द्रियों–रूपी मंत्रियों की सहायता से 5 अथवा 23 विषयों का ज्ञान करता है।

5. पाँचवें बोले : पर्याप्ति छह

1. आहार पर्याप्ति, **2. शरीर पर्याप्ति** **3. इन्द्रिय पर्याप्ति**
4. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति **5. भाषा पर्याप्ति** **6. मनःपर्याप्ति**

जब कोई आत्मा किसी एक जन्म का आयुष्य पूर्ण करके, अगले भव में, नए शरीर को ग्रहण करने का कार्य करती है, तब वहाँ पर, उत्पत्ति के प्रथम समय में, वहाँ विद्यमान पुद्गलों का आहार ग्रहण करती है। फिर उस आहार को, अपने जीवन के विकास–हेतु आवश्यक शरीर, इन्द्रिय, श्वास आदि रूपों में धीरे–धीरे ढालना प्रारम्भ कर देती है। ग्रहण किए गए आहार को, भिन्न–भिन्न रूप में बदलने की आत्मा की इस विशेष शक्ति को ही 'पर्याप्ति' कहते हैं। प्रथम समय में ग्रहण किया गया यह आहार, जीवात्मा के भावी जीवन का आधार (Base) बनता

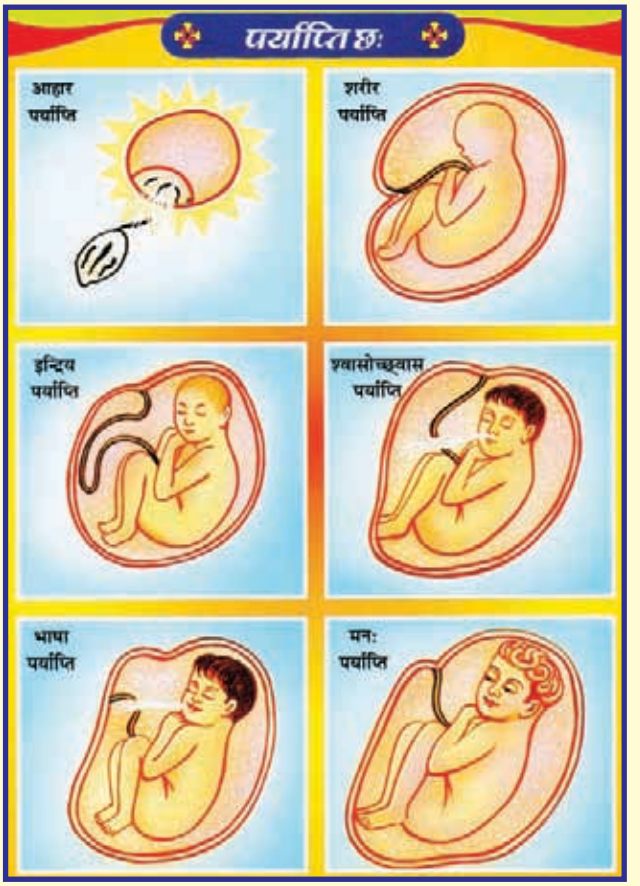

है। जैसे कोई व्यक्ति नया घर बनवाने के लिए, पहले सीमेंट, ईंट, रेत आदि इकट्ठा करता है, वह उस ढाँचे का मुख्य आधार होता है। तो समझो, यह आहार पर्याप्ति की तरह है। फिर जो दीवार आदि से युक्त ढाँचा बनता है, वह शरीर पर्याप्ति की तरह है। खिड़की, दरवाजे आदि इन्द्रिय पर्याप्ति की तरह हैं। इन्द्रियों के बाद श्वास–प्रश्वास, फिर भाषा–यन्त्र तथा अन्त में चिन्तन–शक्ति विकसित होती है। ये क्रमशः श्वास–पर्याप्ति, भाषा–पर्याप्ति तथा मनः पर्याप्ति कहलाते हैं।

कम–से–कम 3½ पर्याप्तियां हर जीव के पास होती हैं। आधे की गणना का यह अर्थ है कि भले ही किसी जीव को, एक जन्म में, न्यूनतम आयु (256 आवलिका) ही मिले, तो भी प्रथम तीन पर्याप्तियां – आहार, शरीर, इन्द्रिय तो उसे प्राप्त होंगी ही तथा चौथी श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण करने से पहले ही वह मर जाएगा। इसलिए उसकी इस पर्याप्ति को ½ पर्याप्ति ही गिनेंगे। अतः एक जन्म–मरण में न्यूनतम 3½ पर्याप्तियां हर जीव की होती हैं। रही अधिकतम की बात, तो एकेन्द्रिय को पहली चार, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय तथा असंज्ञी (बिना मन वाले) पंचेन्द्रिय जीवों को पहली पांच एवं संज्ञी (मन वाले) पंचेन्द्रियों की छहों पर्याप्तियां प्राप्त होती हैं। इन जीवों को 'पर्याप्त' कहलाने के लिए इतनी–इतनी पर्याप्तियों का होना जरूरी है। अगर अपनी अधिकतम पर्याप्तियों को पूर्ण किए बिना, कोई जीव काल कर जाता है, तो उसे अपर्याप्त अवस्था में मरण कहते हैं। परंतु वहाँ पर भी वह कम–से–कम पहली 3½ पर्याप्तियाँ तो पूर्ण करेगा ही।

उदाहरणार्थ – कोई चउरिन्द्रिय (मान लो मक्खी) जीव है। वह पहली पाँच पर्याप्तियों का अधिकारी है। उसने पहली चार पर्याप्तियां पूर्ण कर ली, पर पाँचवीं भाषा–पर्याप्ति, जो उसकी जाति (इन्द्रिय) के अनुसार, उसकी अधिकतम पर्याप्ति है, को पूर्ण किए बिना मर गया, तो उसे अपर्याप्त कहेंगे। अपर्याप्त जीवों की आयु भी कम से कम 256 आवलिका प्रमाण तो होती ही है। एक सैकण्ड में 5825 अवलिकाएँ होती हैं। अर्थात् अपर्याप्त जीव 1/23 सैकण्ड तक तो जीवित रहते ही हैं। एक माता के गर्भ में से एक या दो बच्चे जन्म लेते हैं, लेकिन लाखों जीव बच्चे के रूप में, प्रथम समय में उत्पन्न होकर तुरंत मर जाते हैं। उनका यह मरण भी अपर्याप्त अवस्था में मरण है।

6. छठे बोले : प्राण दस

1. श्रोत्रेन्द्रिय– बल प्राण,
2. चक्षुरिन्द्रिय–बल प्राण,
3. घ्राणेन्द्रिय–बल प्राण
4. रसनेन्द्रिय–बल प्राण
5. स्पर्शेन्द्रिय–बल प्राण,
6. मन–बल प्राण,
7. वचन–बल प्राण,
8. काय–बल प्राण
9. श्वासोच्छ्वास–बल प्राण,
10. आयुष्य–बल प्राण

सुविधा के लिए इनको ऐसे भी याद कर लेते हैं –

5 इन्द्रिय के, 3 मन वचन काया के, 2 श्वासोच्छ्वास और आयुष्य बल के प्राण।

साधारण बोलचाल में प्राण का अर्थ साँसों से अथवा शरीर में आत्मा के रहने से लगा लिया जाता है। प्राण निकलने का अर्थ साधारणतया यह लिया जाता है कि शरीर से आत्मा निकल गयी है। यह प्राण की बड़ी स्थूल (मोटी) व्याख्या है। जैन दर्शन के अनुसार जीवन की मूल शक्तियों को प्राण कहते हैं। जिस शक्ति के द्वारा पाँचों इन्द्रियाँ काम करती हैं, तीनों योग (मन, वचन, काया) चलते हैं, सांस लेने व छोड़ने की ताकत आती है, तथा आत्मा शरीर में टिकी रहती है, उसे प्राण कहते हैं।

पाँच इन्द्रियों के बल के 5 प्राण इन इन्द्रियों की काम करने की शक्तियाँ हैं। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय के साथ सुनने की शक्ति इस

इन्द्रिय का बल–प्राण है। यदि कोई व्यक्ति बहरा हो जाता है, तो उसके कान तो मौजूद हैं, पर उसका बल–प्राण खत्म हो जाने के कारण वह कान का उपयोग नहीं कर सकता। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि बहरे मनुष्य को (चाहे जन्म से ही बहरा अथवा बाद में) पंचेन्द्रिय ही कहा जायेगा; क्योंकि कान की संरचना उसमें मौजूद है। उसे चार इन्द्रियों वाला नहीं कहेंगे, अपितु यह कहेंगे कि इसका कान होने के बावजूद भी श्रोत्रेन्द्रिय–बल–प्राण नहीं है। इसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों के विषय में समझना। कोमा तथा बेहोशी की हालत में मनोबल–प्राण क्षीण या खत्म हो जाता है, तब केवल श्वासोच्छ्वास और आयुष्य–बल शेष रह जाता है। कभी–कभी श्वास, हृदय–गति बंद हो जाने पर भी, मनुष्य को जीवित मानने के उदाहरण सुने हैं। वहाँ केवल आयुष्य बल रहने से ही वह जी पाता है। बल–प्राण की तुलना हम ऐसे कर सकते हैं – जैसे टेलीफोन का उपकरण है, एक्सचेंज से कनैक्शन भी है, परंतु डायलटोन गायब हो जाने पर फोन मृत कहलाता है तथा उसका होना, न होना बराबर है, इसी प्रकार ये 10 बल–प्राण अपने–अपने उपकरणों की डायलटोन हैं, उनका इलैक्ट्रिक करण्ट हैं। जिस प्रकार जाति के बोल में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक, हमें विभिन्न जीवों में, चेतना के क्रमशः विकास का पता चलता है, उसी प्रकार दस प्राणों से भी जीव में चेतना के विकास का पता चलता है। किसी भी जीव में अर्थात् एकेन्द्रिय में भी कम–से–कम चार (अर्थात् 1 स्पर्शेन्द्रिय का, 1. काया का, 1 श्वासोच्छ्वास का और 1 आयुष्य का) बल–प्राण तो होते ही हैं। यह जीव कहलाने की न्यूनतम शर्त है। इसी प्रकार आगे–आगे बेइन्द्रियों में 6, तेइन्द्रियों में 7, चउरिन्द्रियों में 8, असंज्ञी (बिना मन वाले) पंचेन्द्रियों में 9 तथा शेष सभी संज्ञी पंचेन्द्रियों में 10 बल–प्राण होते हैं। जैन धर्म में हिंसा–अहिंसा की व्याख्या इन 10 बल–प्राणों पर ही आधारित है। किसी भी जीव के, किसी भी बल–प्राण को, मन, वचन अथवा काया से समाप्त करना या पीड़ा पहुँचाना हिंसा कहलाता है। जितने ज्यादा बल–प्राण को कष्ट देंगे या समाप्त करेंगे, मन में उतने ही अधिक क्रूर परिणाम लाने होंगे तथा हम उतने ही अधिक अपराधी (पापी) ठहराए जाएँगे। इसलिए जैन धर्म के अनुसार, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की हिंसा, आगे–आगे अधिक पाप का कारण मानी जाती है। किसी भी प्राणी को जीवन से रहित कर देने का अर्थ है आयुष्य बल–प्राण सहित, सभी प्राणों से उसे रहित कर देना, जो कि पूर्ण हिंसा का कारण मानी जाती है।

7. सातवें बोले : शरीर पाँच

1. औदारिक शरीर, 2. वैक्रिय शरीर, 3. आहारक शरीर, 4. तैजस् शरीर तथा 5. कार्मण शरीर।

यहाँ पर शरीर का अर्थ वही है, जो आम बोलचाल में होता है, जिसे अंग्रेजी में Body कहते हैं। इसके 5 भेद होने पर भी, इसे मुख्यतया दो भागों में बाँटा जा सकता है – स्थूल एवं सूक्ष्म। पहले तीन शरीर स्थूल हैं तथा अन्तिम दो (4, 5) सूक्ष्म शरीर हैं। जब तक आत्मा मोक्ष में नहीं जाती, तब तक शरीर से उसका छुटकारा नहीं होता। मोक्ष में पहुँचने के बाद शरीर से छुटकारा हो जाता है; अतः सिद्धों को 'अशरीरी' भी कहते हैं। पाँचों शरीरों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है –

1. औदारिक शरीर – विशेष प्रकार के औदारिक पुद्गलों अर्थात् पदार्थों; जैसे – हड्डी, मांस, खून व रस आदि से बने शरीर को 'औदारिक शरीर' कहते हैं। गलना, सड़ना, आहार से वृद्धि प्राप्त करना, बिना आहार के क्षय (घटना) होना, रोग तथा बुढ़ापे का शिकार होना आदि औदारिक शरीर के लक्षण हैं। मनुष्य की, पशु–पक्षियों की जो देह हमें दिखाई देती है, तथा वनस्पति फल–फूल, पेड़–पौधों आदि की जो संरचना व आकार हमें दिखाई देता है, वह इनका औदारिक शरीर है। पृथ्वी, पानी आदि भी जो पदार्थ दिखाई देते हैं, वह उन काय के जीवों का औदारिक शरीर है। जीव विज्ञान में जीव अथवा Life के जितने

लक्षण हैं, वे सब औदारिक शरीर पर ही घटित होते हैं। शेष शरीर औदारिक की अपेक्षा सूक्ष्म होने से विज्ञान की पकड़ से बाहर हैं। औदारिक शरीर को अशुचि तथा घृणा का पात्र भी कहा जाता है। मनुष्य तथा तिर्यंच को यह अवश्य होता है तथा नारकी, देवता को कदापि नहीं होता है।

2. वैक्रिय शरीर – जिस शरीर से विभिन्न रूप बनाने संबंधी विविध क्रियाएँ हों, उसे 'वैक्रिय शरीर' कहते हैं। इसका निर्माण औदारिक शरीर की तरह हड्डी–मांस आदि से नहीं होता। कुछ विशेष प्रकार के पदार्थ मिलकर इसका निर्माण करते हैं। जिस प्रकार पारा मिलता है व बिखर जाता है, उसी प्रकार वैक्रिय शरीर मिलता–बिखरता रहता है। विभिन्न प्रकार के रूप (मनुष्य, पशु–पक्षी या अजीव उपकरण; जैसे – घड़ा, डण्डा, सिंहासन, विमान, वाहन आदि), विभिन्न प्रकार की हू–ब–हू शक्लें बनाना, मच्छर से भी अधिक छोटा तथा पर्वत से भी अधिक बड़ा शरीर बना लेना, अदृश्य हो जाना, एक जैसे अनेकों शरीर बना लेना, वैक्रिय शरीर की करामात से संभव है। देवों तथा नारकियों का शरीर वैक्रिय शरीर ही होता है। इनके शरीर को भव–प्रत्यय (जन्म से ही प्राप्त होने वाला) वैक्रिय कहते हैं। इन दोनों में एक अन्तर यह है कि देवों के वैक्रिय शरीर का निर्माण शुभ पुद्गलों (पदार्थों) से तथा नारकियों के वैक्रिय शरीर का निर्माण अशुभ–पुद्गलों से होता है। मनुष्यों तथा पाँचों इन्द्रियों वाले तिर्यंचों (पशु–पक्षियों) को भी विशेष साधना से यह शरीर प्राप्त हो सकता है, जिसे लब्धि–प्रत्यय वैक्रिय कहते हैं।

3. आहारक शरीर – चारों गतियों (नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव) में से, यह शरीर केवल मनुष्य गति में ही संभव है। वह भी साधु को, तथा साधु में भी चौदह पूर्व (विशेष ज्ञान) के ज्ञाता साधु को ही यह शरीर हो सकता है। जब चौदह पूर्व के ज्ञाता साधु को किसी विषय में कोई शंका होती है, तो वह सुदूर स्थित तीर्थंकर भगवान् से, अपना संशय दूर करने के लिए, अथवा उनके दर्शन करने के लिए, अपने मूल औदारिक शरीर में से, अपने रूप जैसा ही, एक हाथ जितना स्फटिक रत्न का, पारदर्शी, बहुत सुंदर, दिव्य शरीर निकालते हैं। यह पारदर्शी शरीर वायु से भी सूक्ष्म, आत्मा के समान अप्रतिघाती (बिना रुकावट कहीं से भी पार हो जाने वाला) तथा 5 इन्द्रिय व मन से युक्त होता है। जैसे राडार से किरणें प्रक्षेपित होती हैं तथा वापस आ जाती हैं, उसी प्रकार यह शरीर भी तीर्थंकर भगवन्तों तक जाता है, फिर वहाँ से संदेश व दृश्य एक वीडियो कैमरे की तरह, भेजने वाले मुनि तक पहुँचा देता है। तत्पश्चात् वहां से वापस

आकर मूल शरीर में समा जाता है और एक बुलबुले की भाँति समाप्त हो जाता है।

4. तैजस् शरीर – यह उष्णता–प्रधान पुद्गलों से बना होता है और गर्मी का रूप होता है। नए जन्म में, नए शरीर की रचना में सहायक होता है। नए जन्म के स्थान पर, सर्वप्रथम ग्रहण किए गए आहार का पाचन, इसी शरीर से होता है। यह अदृश्य होता है तथा किसी भी उपकरण की पकड़ में न आए, इतना सूक्ष्म होता है। यह गर्मी का एक पुंज रूप होता है। जठराग्नि (पेट की गर्मी) भी इसी को कहते हैं। विशेष लब्धि– (शक्ति) प्राप्त प्राणी कुपित होकर जब 'तेजो लेश्या' (अति गर्म किरणें) फैंकते हैं, तो वह इसी शरीर से उत्पन्न होती हैं। (अर्थात् अपनी शक्ति द्वारा किसी को भस्म कर देने की क्रिया, तैजस् शरीर के कारण ही होती है।) यह शरीर हर अवस्था में संसारी आत्मा के साथ ही लगा रहता है। इसके जाने की वजह से ही शरीर मरने के बाद ठंडा होता है।

5. कार्मण शरीर – हमारी आत्मा से लगे हुए कर्म, एक पिण्ड रूप में, संग्रह रूप में रहते हैं। इन कर्मों के समूह का नाम ही कार्मण शरीर है। जैसे एक कम्प्यूटर डिस्क (Disc) में विभिन्न प्रकार के प्रोग्राम भरे (Feed) रहते हैं, उसे सॉफ्टवेयर (Software) कहते हैं, इसी सॉफ्टवेयर की तरह हमारा कार्मण शरीर है। यह कार्मण शरीर अंदर रहता हुआ, एक कुशल मुनीम (Accountant) की भाँति, कर्मों को पूरा लेखा–जोखा रखता है। वैदिक दर्शन में जो काम चित्रगुप्त यमराज के लिए करता है, जैन दर्शन में वही काम कार्मण शरीर, आत्मा के लिए करता है। यह शरीर भी, हर अवस्था में संसारी आत्मा के साथ ही लगा रहता है।

इस प्रकार तैजस् तथा कार्मण दोनों सूक्ष्म शरीर, सिद्ध होने तक, आत्मा के साथ लगे रहते हैं तथा जब जीवात्मा एक स्थान छोड़कर, दूसरे स्थान पर जन्म लेने के लिए चलती है, तो रास्ते में भी उसी के साथ रहते हैं।

8. आठवें बोले : योग पन्द्रह

4 मन के, 4 वचन भाषा के, 7 काया के।

4 मन के– 1. सत्य मनोयोग, 2. असत्य मनोयोग, 3. मिश्र मनोयोग, 4. व्यवहार मनोयोग।

4 वचन के – 1. सत्य वचन योग, 2. असत्य वचन योग, 3. मिश्र वचन योग, 4. व्यवहार वचन योग।

7 काया के – 1. औदारिक काय योग, 2. औदारिक–मिश्र काय योग, 3. वैक्रिय काय योग, 4. वैक्रिय–मिश्र काय योग, 5. आहारक काय योग, 6. आहारक–मिश्र काय योग, 7. कार्मण काय योग।

योग – मन, वचन और काया जब हलचल करते हैं, तब आत्मा में कम्पन होता है और उस कम्पन से आत्मा के आस–पास रहे हुए कर्मों के सूक्ष्म परमाणु आत्मा से चिपक जाते हैं। इसलिए मन, वचन, काय की हलचल को 'योग' कहते हैं। यहाँ योग शब्द का अर्थ क्रिया है। निष्क्रिय आत्मा तथा निष्क्रिय मन, वचन व काया परस्पर मिलकर क्रियाशील होते हैं। शरीर–रहित आत्मा सिद्धों में है, वह निष्क्रिय है। सिद्धों में मन, वचन, काया नहीं होती और इनसे रहित आत्मा कुछ क्रिया नहीं कर सकती; अतः सिद्धों को अयोगी कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा–रहित निर्जीव शरीर में भी योग–रूप क्रिया नहीं होती है। इस प्रकार मन, वचन अथवा काया के माध्यम से, आत्मा द्वारा की जाने वाली क्रिया को योग कहते हैं। मन, वचन, काया में से, जब, जिस निमित्त से, क्रिया हो, उसके अनुसार

मनोयोगी, वचन योगी तथा काया योगी कहते हैं। इसी आधार पर योग के तीन भेद हो गए हैं। मनोयोग–मन के निमित्त से होने वाली आत्म–क्रिया, इसी प्रकार वचन योग एवं काया योग। इन्हीं तीनों को और अधिक स्पष्टता तथा विस्तार देने के लिए, इन 3 के 15 भेद किए गए हैं।

4 मन के – मन का चिन्तन सत्य है तो सत्य मनोयोग, चिन्तन असत्य है तो असत्य मनोयोग, चिन्तन में सत्य में असत्य दोनों का मिश्रण है तो मिश्र मनोयोग, और अगर इन सबसे अलग मन का चिन्तन, मात्र किसी इच्छा के रूप में है, तो व्यवहार मनोयोग कहलाता है।

4 वचन के – इसी प्रकार वचन के भी 4 भेद हो जाते हैं। सत्य, असत्य एवं मिश्र वचन योग तो सच, झूठ एवं मिली–जुली भाषा बोलने के अनुसार ही होते हैं। परंतु व्यवहार भाषा में आज्ञा, जिज्ञासा, हर्ष, विस्मय आदि के प्रकट करने की भाषाएं आ जाती हैं। साथ ही ऐसे वाक्य भी आ जाते हैं, जो बारीकी से देखने पर तो सत्य प्रतीत नहीं होते, परंतु उनका चलन सत्य के रूप में होता है। जैसे – यह सड़क दिल्ली जा रही है। देखा जाए तो सड़क स्थिर होती है, चलती नहीं है, परंतु व्यवहार में इस प्रकार के वाक्य अक्सर प्रयोग किए जाते हैं। इस प्रकार के वचन व्यवहार–भाषा में आ जाते हैं। किसी भी प्रकार की ध्वनि, जैसे भ्रमर की गुंजार, मक्खी–मच्छर की भिनभिनाहट, पक्षियों की चहचहाट, शेर की दहाड़ आदि भी व्यवहार भाषा ही है।

7 काया के – अब काया योग की बात करते हैं। मन और भाषा को तो हमने सत्य, असत्य आदि चार–चार भागों में बाँट दिया, परंतु काय की हलचल अर्थात् काय योग में यह व्यावहारिक नहीं है। क्योंकि शारीरिक क्रियाओं के सत्य, असत्य, मिश्र आदि रूप संभव नहीं हैं। इसमें श्वास–प्रणाली, रक्त–संचार, दिल तथा दिमाग के स्पन्दन तथा बाहर की चलना, फिरना आदि क्रियाएँ सम्मिलित हैं। इनके निम्न प्रकार से 7 विभाग किए गए हैं –

1. औदारिक काय योग – औदारिक शरीर की पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद, उस शरीर से जो भी क्रियाएँ होती है, उन्हें औदारिक काय योग कहते हैं।

2. औदारिक–मिश्र काय योग – नए स्थान पर जन्म लेते समय, औदारिक शरीर की पर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व, जब तक कार्मण शरीर के सहयोग की आवश्यकता होती है, उस समय तक, काया की क्रिया को औदारिक–मिश्र काय योग कहते हैं। जिस प्रकार गोली के बंदूक में रहने तक गोली तथा बन्दूक दोनों की मिश्रित क्रिया होती है, परंतु घोड़ा (ट्रिगर) दबते ही, जब गोली

बंदूक की नाल से बाहर निकल जाती है, तब मात्र गोली की क्रिया होती है।

3. वैक्रिय काय योग – देवों तथा नारकियों में वैक्रिय शरीर की पर्याप्ति पूर्ण हो जाने के बाद वैक्रिय काय योग होता है। तिर्यंच तथा मनुष्य, जिन्हें वैक्रिय–लब्धि प्राप्त हो जाती है, और वो जब अपना वैक्रिय शरीर बना लेते हैं, तो उस निमित्त वैक्रिय शरीर की क्रियाएँ भी वैक्रिय काय योग कहलाती है।

4. वैक्रिय–मिश्र काय योग – देवों तथा नारकियों में वैक्रिय शरीर की पर्याप्ति पूरी होने से पूर्व, जब तक कार्मण शरीर का सहयोग आवश्यक है, तब तक वैक्रिय–मिश्र काय योग कहलाता है। इसी प्रकार मनुष्यों तथा तिर्यंचों द्वारा बनाया गया वैक्रिय शरीर, जिस समय मूल औदारिक शरीर में वापस समा रहा होता है, उस काल में भी वैक्रिय–मिश्र काय योग होता है।

5. आहारक काय योग – चौदह पूर्वधारी साधु, अपने मूल शरीर से, जब आहारक शरीर को बाहर निकाल देते हैं, तब उस बाहर निकले हुए स्वतंत्र आहारक शरीर के योग (क्रिया) को आहारक काय योग कहते हैं।

6. आहारक–मिश्र काय योग – आहारक शरीर जब मूल औदारिक शरीर में समा रहा होता है, तब समाने की क्रिया पूर्ण होने तक, आहारक–मिश्र काय योग कहलाता है।

7. कार्मण काय योग – जब औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक तीनों स्थूल शरीरों में से कोई भी शरीर नहीं होता, तब कार्मण काय योग होता है। जैसे – जब आत्मा एक शरीर छोड़ने के बाद, दूसरे शरीर को ग्रहण करने के लिए गति करती है, तब अन्तराल –काल में कार्मण शरीर ही सक्रिय होता है। उस सक्रियता को कार्मण काय योग कहा जाता है।

तैजस् का कोई भी काय योग नहीं माना गया है तथा कार्मण का मिश्र योग नहीं माना गया है। यद्यपि तेजोलेश्या छोड़ते समय व समेटते समय तैजस् शरीर क्रियाशील प्रतीत होता है, परंतु इसे औदारिक के योगों के अंतर्गत ही रखा गया है, क्योंकि तैजस् पुद्गलों के प्रकम्पन आत्मा के प्रदेशों में प्रकम्पन पैदा नहीं करते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक जब बिल्कुल स्वतंत्र होते हैं, तब उनका योग (क्रिया) क्रमशः औदारिक, वैक्रिय अथवा आहारक कहा जाता है। परंतु जब आहारक या वैक्रिय शरीर, औदारिक शरीर से निकल रहे हों, तब औदारिक का मिश्र काय योग होता है, और जब वैक्रिय या आहारक शरीर, अपने मूल औदारिक शरीर में प्रवेश कर रहा हो,

तब उस शरीर (वैक्रिय या आहारक) का मिश्र काय योग कहा जाता है। जो शरीर वापस आकर मिल रहा है, पहले मिश्र होता है, मुख्य बाद में, परंतु सुविधा की दृष्टि से मिश्र को बाद में लिया गया है।

9. नौवें बोले : उपयोग बारह

5 ज्ञान, 3 अज्ञान, 4 दर्शन 5 ज्ञान – मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनः पर्यव ज्ञान और केवल ज्ञान।

3 अज्ञान – मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग ज्ञान (अवधि अज्ञान)।

4 दर्शन – चक्षुः दर्शन, अचक्षुः दर्शन, अवधि दर्शन, केवल दर्शन।

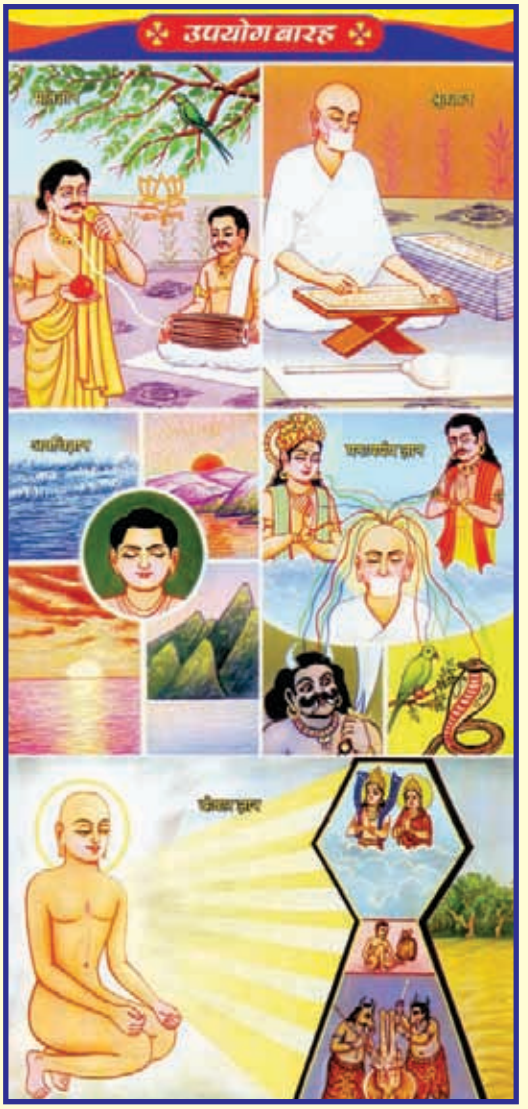

उपयोग – आत्मा का गुण है – चेतना। यह चेतना क्या है ? ज्ञान और संवेदनशीलता का नाम ही चेतना है। इसी चेतना को उपयोग भी कह सकते हैं। यह उपयोग–गुण ही आत्मा को जड़ से अलग करता है। वस्तु के सामान्य तथा विशेष रूप को जानने का नाम उपयोग है। देखना तथा जानना, ये दोनों उपयोग के अन्तर्गत ही आते हैं। इस देखने तथा जानने के आधार पर ही उपयोग के तीन मुख्य प्रकार हो जाते हैं – ज्ञान, अज्ञान और दर्शन।

इनमें ज्ञान तथा अज्ञान, दो भिन्न–भिन्न चीजों के नाम नहीं हैं। उल्टे (मिथ्या) ज्ञान को ही

अज्ञान कहते हैं। देव, गुरू और धर्म के सही स्वरूप को जानने एवं उस पर श्रद्धा रखने वाले (अर्थात् सम्यक्त्वी) जीव को जो ज्ञान होता है, उसे ज्ञान कहते हैं, परंतु वही ज्ञान जब देव, गुरू और धर्म के सही स्वरूप को न समझने वाले (अर्थात् मिथ्यात्वी) जीव को होता है, तो उसके ज्ञान को अज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है। जैसे– कुपुत्र या कपूत का अर्थ है ऐसा पुत्र, जो पुत्र के रूप में अपने कर्त्तव्यों का सही निर्वाह न करे। इसी प्रकार कुबुद्धि या दुर्बुद्धि का अर्थ है, ऐसी बुद्धि जो गलत ढंग से सोचे, कार्य करे। जैसे कपूत या कुबुद्धि कहीं अलग से पैदा नहीं होते, बल्कि सही रूप में न होने के कारण इनको इस नाम से पुकारते हैं। उसी प्रकार मिथ्यात्वी के ज्ञान को अज्ञान के नाम से पुकारते हैं। जैसे कपूत को सपूत और सूपत को कपूत बनते देर नहीं लगती, उसी प्रकार यदि जीव सम्यक्त्वी से मिथ्यात्वी या मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी बन जाये, तो ज्ञान को अज्ञान तथा अज्ञान को ज्ञान में बदलते भी देर नहीं लगती।

अब इनके भेदों पर आते हैं :–

पाँच ज्ञान – मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान और केवल ज्ञान।

1. मति ज्ञान – जो कुछ हम देख, सुन रहे हैं या अन्य इन्द्रियों से जानकारी प्राप्त कर रहे हैं, अथवा अपने मन से सोच रहे हैं, वह सब मति ज्ञान है। कह सकते हैं कि पाँच इन्द्रियों तथा एक मन से होने वाले ज्ञान को मति ज्ञान कहते हैं। पूर्व जन्मों का स्मरण, जिसे हम 'जाति स्मरण ज्ञान' कहते हैं, भी मति ज्ञान का ही रूप है।

2. श्रुत ज्ञान – स्वयं का मति ज्ञान, जब परिपक्व होकर शब्दों में व्यक्त करने योग्य हो जाये, तो उसे श्रुत ज्ञान कहते हैं। अपना अनुभव जब किसी को वाणी द्वारा दिया जाता है, तो श्रुत ज्ञान कहलाता है। अतः मनि ज्ञान का अर्थ हुआ – स्वनिर्मित ज्ञान तथा श्रुत ज्ञान का अर्थ हुआ दूसरे से तैयार ज्ञान ले लेना। पुस्तकें, ग्रन्थ, शास्त्रों आदि का ज्ञान श्रुत ज्ञान कहलाता है। श्रुतज्ञान की अधिकतम सीमा 14 पूर्व (विशिष्ट शास्त्र) हैं।

3. अवधि ज्ञान – मति ज्ञान तथा श्रुत ज्ञान अप्रत्यक्ष (परोक्ष) ज्ञान हैं, क्योंकि इनकी प्राप्ति के लिए आत्मा को इन्द्रियों अथवा मन की मदद लेनी पड़ती है। इनसे आगे के तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। इनमें इन्द्रियों तथा मन की आवश्यकता नहीं होती, आत्मा सीधे ही अपने आप ग्रहण करती है। इन्हीं 3 प्रत्यक्ष ज्ञानों में पहला प्रत्यक्ष ज्ञान, अवधि ज्ञान है। इस ज्ञान के द्वारा, एक निश्चित क्षेत्र में, कहाँ क्या हो रहा है, वह इस प्रकार जाना जा सकता है, जैसे हम एक कमरे में

बैठकर उस कमरे की वस्तुओं को प्रत्यक्ष देख सकते हैं। अथवा जैसे किसी क्रिकेट मैच या अन्य घटना का टी.वी. पर सीधा प्रसारण देखा जाता है। जिस प्रकार अलग–अलग सूक्ष्मदर्शियों की देखने की अलग–अलग सीमा होती है, उसी प्रकार अलग–अलग जीवात्माओं के अवधि ज्ञान की सीमा भी अलग–अलग होती है। इस सीमा के कारण ही इस ज्ञान का नाम 'अवधि' ज्ञान होता है। देवों तथा नारकियों को यह जन्म से ही होता है। मनुष्यों तथा मन वाले पशु–पक्षियों को यह उनकी आत्मा में विशेष निर्मलता लाने पर ही हो सकता है। अवधि ज्ञान के द्वारा केवल रूपी द्रव्यों (रंग, रूप वाले) को ही देखा जा सकता है। बिना रंग, रूप वाले (अरूपी) द्रव्य इसके द्वारा नहीं देखे जा सकते।

4. मनःपर्यव ज्ञान – हमारे मन पर हर समय कुछ न कुछ चित्र बनते रहते हैं। इन चित्रों या प्रतिबिम्बों को मन की पर्याय कहते हैं। इन पर्यायों को स्पष्ट रूप से देख लेने व जान लेने की शक्ति मनःपर्यव ज्ञान कहलाती है। सीधे शब्दों में कहना हो, तो किसी की सोची हुई बात को जान लेना ही मनःपर्यव ज्ञान है। मन की पर्यायें भी रंग, रूप वाली होती हैं, अतः अवधि ज्ञानी भी उनको देख सकता है, परन्तु उसका स्पष्ट अर्थ नहीं लगा सकता। यह अर्थ लगाने का काम तो मनःपर्यव ज्ञानी ही कर सकता है। जैसे चिकित्सा के क्षेत्र में हृदय की ई.सी.जी. या दिमाग की स्कैनिंग आदि के समय, कागज या स्क्रीन पर आड़ी–तिरछी रेखाओं को देख तो एक साधारण व्यक्ति भी सकता है, परन्तु उसका अर्थ कोई विशेषज्ञ ही लगा सकता है। इसी प्रकार मनःपर्यव ज्ञानी के विषय में समझना चाहिए। मनःपर्यव ज्ञानी का विषय यद्यपि अवधि ज्ञानी की अपेक्षा कम होता है, परन्तु उसको अपने उस सीमित विषय में विशेष दक्षता प्राप्त होती है। मनःपर्यव ज्ञान केवल साधु को ही हो सकता है, अन्य किसी को नहीं। चूँकि यह ज्ञान मिथ्यात्वी को नहीं हो सकता, इसलिए मनःपर्यव ज्ञानरूप ही होता है, अज्ञान रूप नहीं।

अवधि ज्ञान या मनःपर्यव ज्ञान के द्वारा कुछ जानने के लिए, इसमें अपने आपको केन्द्रित करना होता है। इसीलिए कहा जाता है कि अमुक ने अवधि ज्ञान में 'उपयोग' लगाया। उपयोग लगाना ऐसा ही है, जैसे कमजोर नजर वाला व्यक्ति, चश्मा लगाकर ही दूर की वस्तु साफ–साफ देख सकता है। अथवा जैसे कम्प्यूटर में सूचनायें तो दर्ज हैं, परन्तु उन्हें देखने के लिए की–बोर्ड अथवा की–माऊस के द्वारा खोजना पड़ता है।

5. केवल ज्ञान :– केवल का अर्थ है – 'सम्पूर्ण'। भूत, भविष्य, वर्तमान तथा सम्पूर्ण लोक के

सभी रूपी व अरूपी पदार्थों को जान लेना केवल ज्ञान है। केवल ज्ञानी को आम बोलचाल में त्रिकालदर्शी या सर्वज्ञ भी कह देते हैं। यह ज्ञान अरिहन्तों तथा सिद्धों को होता है। 'केवल' का अर्थ ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भावों का न होना भी है। अतः राग, द्वेष, मोह से सर्वथा मुक्त ज्ञान को केवल ज्ञान कहते हैं। चूँकि केवल ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान है, अतः विभिन्न केवल ज्ञानियों में केवल ज्ञान का अलग–अलग स्तर नहीं होता, सभी केवलियों का ज्ञान एक जैसा ही होता है। चार घाती (विशेष रूप से खतरनाक) कर्मों–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय की सम्पूर्ण समाप्ति के बाद, केवल ज्ञान उसी प्रकार प्रकट हो जाता है, जैसे बादलों के हट जाने पर सूर्य का प्रकाश। मात्र केवल ज्ञानी को ही जैन दर्शन में सुदेव (सच्चा देव) अथवा भगवान् कहा गया है। जिसको केवल ज्ञान नहीं होता, ऐसे किसी भी व्यक्तित्व को भगवान् समझना मिथ्यात्व कहलाता है। जिसको केवल ज्ञान हो गया, उसको उसी जन्म में मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है। उसका केवल ज्ञान अनन्त काल में भी समाप्त नहीं होता अर्थात् शाश्वत रहता है।

तीन अज्ञान – मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंग ज्ञान।

यहाँ पर अज्ञान का अर्थ ज्ञान के अभाव से नहीं, अपितु गलत प्रकार से जानने से है। जैसाकि पहले भी बताया जा चुका है, यदि जीवात्मा मिथ्यात्वी है, तो उसके मति और श्रुत ज्ञान को क्रमशः मति अज्ञान तथा श्रुत अज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार मिथ्यात्वी के अवधि ज्ञान को विभंग ज्ञान कहते हैं। ध्यान देने योग्य बात है कि इसे अवधि अज्ञान न कहकर विभंग ज्ञान कहा गया है। विभंग का अर्थ ही 'कु' या 'उल्टे' से है।

चार दर्शन – चक्षुः दर्शन, अचक्षुः दर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन।

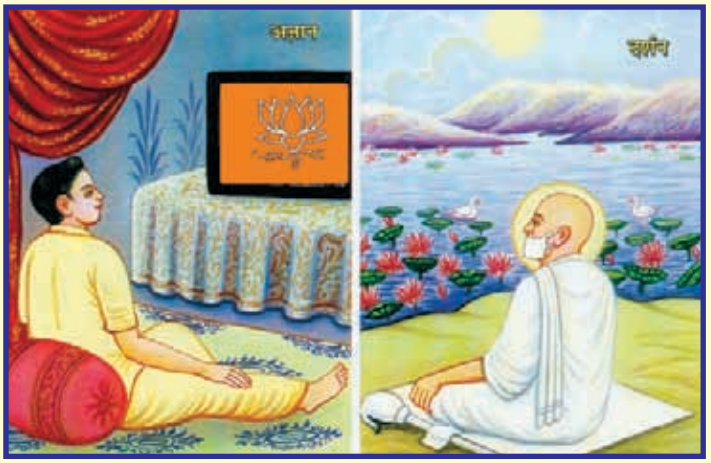

यहाँ पर दर्शन का अर्थ देखने से है। वस्तु के सामान्य स्वरूप को जानना दर्शन है।

ज्ञान तथा दर्शन में अन्तर : जैसाकि बताया गया है वस्तु के

सामान्य स्वरूप को जानना दर्शन है। इससे अलग, वस्तु के विशेष स्वरूप को जानना ज्ञान है। जैसे ही आँख के सम्पर्क में कोई वस्तु आई, कान के सम्पर्क में कोई शब्द आया, अथवा अन्य किसी इन्द्रिय के सम्पर्क में उसका विषय आया, तो सैकण्ड के भी बहुत छोटे हिस्से जितने समय तक, उसके अस्तित्व का अस्पष्ट–सा भान होना दर्शन है। कुछ क्षण बाद उसका स्पष्ट अस्तित्व जान लेना, उसे समझ लेना, ज्ञान है। जैसे कई बार टी.वी. की स्क्रीन पर पहले पिक्सल (Pixels) उभरते हैं, और बाद में तस्वीरें बनती जाती हैं। ऐसे ही जब तक मस्तिष्क में किसी विषय का आकार न बने, तब तक दर्शन अवस्था है तथा आकार बनने पर ज्ञान अवस्था कहलाती है। पहले दर्शन होता है, बाद में ज्ञान।

अब दर्शन के चार भेदों पर आते हैं –

1. चक्षुः दर्शन – आँखों द्वारा वस्तु के सामान्य बोध का नाम चक्षुःदर्शन है।

2. अचक्षुः दर्शन – आँखों के अतिरिक्त, शेष चार इन्द्रियों द्वारा होने वाला वस्तु का सामान्य बोध अचक्षुः दर्शन कहलाता है।

3. अवधि दर्शन – अवधि ज्ञान द्वारा, किसी वस्तु के ज्ञान से ठीक पहले का अस्पष्ट या सामान्य बोध अवधि दर्शन है।

4. केवल दर्शन – केवल ज्ञान में तीनों लोक के सम्पूर्ण रूपी–अरूपी पदार्थ हथेली पर रखे आँवले की भाँति स्पष्ट दिखाई देते हैं। उस स्पष्टता के साथ–साथ, उससे ठीक पहले, जो निराकार बोध होता है, उसी का नाम केवल दर्शन है।

10. दसवें बोले : कर्म आठ

1. ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय 3. वेदनीय 4. मोहनीय
5. आयुष्य 6. नाम 7. गोत्र 8. अन्तराय

इस सारे ब्रह्माण्ड में बहुत सूक्ष्म–सूक्ष्म पुद्गल (परमाणु) बिखरे हुए हैं। कुछ परमाणु प्रकाश के हैं, कुछ ध्वनि के हैं, कुछ परमाणुओं से शरीर बनता है तथा कुछ परमाणुओं से भाषा बनती है। उन सूक्ष्म परमाणुओं में एक वर्ग कर्म–परमाणुओं का भी है। उस वर्ग को 'कार्मण वर्गणा' या 'कर्म पुद्गल' कहते हैं। जब कोई जीवात्मा मन, वचन अथवा काय के योग (कम्पन या हलचल) द्वारा क्रियाशील होती है, तो उस समय ये वर्गणाएँ, आत्मा के निकट आ जाती हैं और यदि उस समय आत्मा में क्रोध, मान, माया अथवा लोभ रूपी कषाय मौजूद हों, तो वे कार्मण वर्गणाएँ आत्मा के साथ चिपक जाती हैं। आत्मा के साथ चिपक जाने के बाद उन्हें कर्म कहा जाता है। वही कर्म कुछ समय के बाद अपना असर दिखाना शुरू कर देते हैं। इनके द्वारा दिखाये जाने वाले असर के अनुसार ही इनका नामकरण किया गया है। कुछ कर्म–परमाणु आत्मा को अज्ञानी बना देते हैं, कुछ अंधा बना देते हैं, कुछ शारीरिक सुख–दुःख का अनुभव कराते हैं। कुछ कर्म–परमाणु आत्मा को नास्तिक और चरित्रहीन बना देते हैं। कुछ परमाणु यह तय करते हैं कि जीव मनुष्य, देवता, नारकी, पशु में से क्या बनेगा? कुछ परमाणुओं के प्रभाव से सामाजिक स्तर तय होता है तथा कुछ परमाणु आत्मा को

शक्तिहीन बना देते हैं। जैन धर्म कर्मों के इस सिद्धान्त को बहुत महत्व देता है। पूरा जैन दर्शन कर्म–सिद्धान्त पर ही आधारित है। यह सिद्धान्त अन्य किसी भी दर्शन से अधिक सूक्ष्म, यथार्थपरक और न्याय–संगत है। जैन दर्शन की कर्म थ्योरी (Theory) अपने अच्छे–बुरे भविष्य और परिणाम की चाबी, उसी जीव के स्वयं के हाथ में पकड़ाती है। अतः आत्मा स्वयं ही सर्वशक्तिमान् है। कोई दूसरा उसे न तो दण्ड दे सकता है और न ही पुरस्कार। आत्मा स्वयं ही कर्त्ता है व स्वयं ही भोक्ता है। कोई अदृश्य शक्ति इस संसार को अपनी इच्छा से चला रही है, ऐसी किसी अवधारणा को जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता है। सारा खेल कर्मों का ही है। ये कर्म अपने आप ही जीवात्मा को प्रभावित करते हैं। इनका स्वभाव ही ऐसा होता है। जैसे कोई मिर्च खाए, तो मुँह में जलन का अनुभव होता है, क्योंकि मिर्च का ऐसा ही स्वभाव है। इसमें किसी बाह्य शक्ति की कोई भूमिका नहीं है। जिस प्रकार खाये हुए पदार्थ शरीर में जाकर अपनी–अपनी तासीर के अनुसार इष्ट–अनिष्ट फलदायक स्वयं होते हैं, उनके लिये हमारे अतिरिक्त अन्य किसी फलदायी शक्ति की कोई गुंजायश नहीं है। उसी प्रकार कर्म के करने वाले तथा उसके फल का भोगने वाले हम स्वयं ही हैं। आठ कर्मों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

1. ज्ञानावरणीय – इस कर्म के कारण, आत्मा के अन्दर मौजूद अनन्त ज्ञान, उसी प्रकार मन्द रहता है, जिस प्रकार बादलों में ढँका हुआ सूर्य। बादल हटे, कि सूर्य प्रकट हुआ। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय हो जाने पर केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है। 5 ज्ञानों के अनुसार ज्ञानावरणीय कर्म के भी 5 भेद हैं। बुद्धि का तीव्र या मन्द होना, स्मरण–शक्ति ज्यादा या कम होना इसी कर्म के अनुसार हैं।

2. दर्शनावरणीय – जिस प्रकार आँखों के ऊपर पट्टी बँध जाये, तो देखने में रुकावट होती है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के उदय होने के बाद आत्मा की देखने की शक्ति कम हो जाती है। चार दर्शन के अनुसार तथा 5 निद्राओं के आधार पर इसके नौ भेद हैं। निद्रा आना, आँख की ज्योति मन्द हो जाना तथा अन्धा हो जाना भी इसी कर्म के फल हैं।

3. वेदनीय – शारीरिक सुख तथा दुःख जिस कर्म के कारण प्राप्त होते हैं, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं। सुख प्रदान करने वाला साता वेदनीय तथा दुःख प्रदान करने वाला असाता वेदनीय कर्म कहलाता है।

4. मोहनीय – जिस प्रकार एक व्यक्ति शराब पी लेता है, तो उसे सही और गलत का ध्यान नहीं रहता, और वह जहाँ गिर पड़ता है, वहीं पड़ा रहता है। इसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय होने पर जीवात्मा धर्म–अधर्म, गुरू–अगुरू, भगवान् और साधारण व्यक्तित्व के विषय में सही ज्ञान नहीं कर पाता। मोहनीय कर्म सब कर्मों का सरदार है। इसका असर भी सबसे अधिक समय तक, 70 कोड़ाकोड़ी सागरोपम (असंख्याता वर्ष) तक रहता है। इसके दो मुख्य भेद हैं –

(क) दर्शन मोहनीय – यह देव, गुरू और धर्म के विषय में अविवेक या उल्टी समझ पैदा करने वाला कर्म है।

(ख) चारित्र मोहनीय – इस कर्म के कारण आत्मा, आत्म–कल्याण के कार्यों में प्रवृत्ति नहीं कर पाती। धर्म–ध्यान की क्रियाएँ, त्याग–तपस्या आदि में पुरुषार्थ नहीं हो पाता, तथा क्रोध, मान आदि कषायों को खत्म करने का प्रयास नहीं होता। इन दोनों के आगे और भेद करने पर मोहनीय कर्म के कुल 28 भेद होते हैं।

5. आयुष्य – जन्म–मरण दुःख का कारण है। चार गतियों में जीव भ्रमण करता है तथा विभिन्न प्रकार के दुःख पाता है। अनन्त बार जीव जन्म लेता है, वहाँ दुःख भोगता है, वहाँ से मरकर दूसरा जन्म लेता है, वहाँ भी दुःख भोगता है। यद्यपि शुभ–अशुभ गति में जन्म लेने पर दुःख कम–ज्यादा तो हो जाते हैं, परन्तु कुल मिलाकर जन्म–मरण और दुःख भोगने का यह चक्र चलता ही रहता है। जिस प्रकार उम्रकैद को भोग रहा कैदी विभिन्न जैलों में रहता है, उसी प्रकार आयुष्य कर्म के प्रभाव से जीव एक निश्चित समय तक एक शरीर में रहता है। आयुकर्म के परमाणु जब तक किसी एक शरीर में पड़े रहते हैं ओर अपना फल देते रहते हैं, तब तक उस जीव को उस भव (जन्म) में ही रहना पड़ता है। इस कर्म के उदय से जीव जन्म लेता है तथा क्षय होने पर मरण हो जाता है। चार गतियों के अनुसार आयु भी चार प्रकार की होती है। एक आयु की समाप्ति से पूर्व ही, अगली आयु निश्चित होने के कारण, जीव एक जन्म से छूट कर भी मुक्त नहीं होता, अपितु जेल बदलने की तरह, दूसरे जन्म में चला जाता है। जन्म के साथ बचपन, यौवन, बुढ़ापा आदि भी आयु की क्रमिक उदय में आने वाली स्थितियाँ हैं। आयु का नया बंधन न होने से तथा पुराना क्षय होने पर जीव सिद्ध, अजर, अमर होता है।

नारकी और देवता की आयु न कभी घटती है और न कभी बढ़ती है। नरक के जीव अपने दुःखों से छुटकारा पाने के लिए, यदि अपनी आयु के परमाणुओं को जल्दी खत्म करना

चाहें, तो खत्म नहीं कर सकते तथा देवता अपने आयु के परमाणुओं को ज्यादा देर तक बनाये रखना चाहें, तो ऐसा नहीं कर सकते। हां, मनुष्य और तिर्यंचों के विषय में दो विकल्प बनते हैं। पहले, दूसरे और तीसरे आरे (काल–चक्र) के असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों व तिर्यंचों की आयु, न बढ़ती है और न घटती है। इसी प्रकार 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव तथा 9 प्रतिवासुदेव (अर्थात् 63 शलाका पुरुष) तथा चरम शरीरी (उसी जन्म में मोक्ष जाने वाले) मनुष्यों की आयु भी घटती–बढ़ती नहीं है। ऐसी आयु को "निरुपक्रमी आयु" कहते हैं। बाकी मनुष्यों तथा तिर्यंचों की आयु घट–बढ़ भी सकती है और ज्यों–की–त्यों भी रह सकती है। जिस प्रकार दीपक में जब तक तेल रहता है, तब तक उस दीपक की आयु कहलाती है। कोई आदमी उस दीपक में पतली बत्ती लगाता है, कोई आदमी मोटी बत्ती लगाता है, कोई उसे खुली हवा में रख देता है व कोई उसे बंद कमरे में रख देता है। कोई–कोई तो उस दीपक के तेल में सीधी चिंगारी लगा देता है। इस प्रकार वह दीपक अलग–अलग परिस्थितियों में कभी 12 घण्टे, कभी 6 घण्टे, कभी 1 घण्टा, तो कभी मिनट भर जलता है और खत्म हो जाता है। इसी प्रकार साधारण मनुष्यों की आयु के परमाणु अलग–अलग तरीके से समाप्त हो जाते हैं। गोली लगने से, ज़हर खाने से, हार्ट–अटैक आदि होने से आयु के परमाणु जल्दी खत्म हो जाते हैं। इस प्रकार की आयु को 'सोपक्रमी आयु' कहते हैं। इस आयु की, समय के अनुसार तो जल्दी समाप्ति प्रतीत होती है, परन्तु आयु कर्म के परमाणु उस कम समय में ही पूरे भोग लिये जाते हैं।

6. नामकर्म – हमें सुन्दर शरीर, कुरूप शरीर तथा शरीर की लम्बाई, चौड़ाई, संगठन, अस्थियों का संघटन, विभिन्न आकृतियाँ नाम कर्म के प्रभाव से ही मिलती हैं। सबसे ज्यादा भेद–विभेद 'नाम कर्म' के ही हैं। या यूँ कह लीजिये कि इसका क्षेत्र सबसे ज्यादा विशाल है। 4 गति, 5 जाति, 84 लाख योनियों की विभिन्न आकृतियाँ तथा उनमें परस्पर भिन्नता डालने के लिए इस कर्म को बहुत अधिक रंग देने होते हैं। इसके साधारणतया 93 भेद होते हैं।

7. गोत्र – ऊँचा–नीचा कुल, खानदान, जाति तथा अच्छी–बुरी नस्लें इस गोत्र कर्म के प्रभाव से ही प्राप्त होती हैं। कई कुल, खानदान ऐसे होते हैं, जो सामान्यतया हीन समझे जाते हैं तथा कुछ अच्छे, इज्ज़त वाले माने जाते हैं। वहाँ जन्म लेने पर व्यक्ति को कुछ तिरस्कार या इज्ज़त, जन्म से ही विरासत में प्राप्त हो जाती है। यद्यपि बाद में अपने अच्छे–बुरे कार्यों, प्रकृति आदि से व्यक्ति अपनी अच्छी–बुरी छवि खुद बनाता है, परन्तु जन्म से जो विशेषण उसे मिलता है, पूरी

जिन्दगी वह उससे चिपका रहता है। जैसे किसी बच्चे का जन्म किसी चोर के यहाँ हो, तो उस बच्चे पर पूरी जिन्दगी, ''चोर की औलाद'' का लेबल चिपक जाता है। किसी बहुत अच्छे कार्य से ही उसको सम्मान मिल पाता है। इसी प्रकार सेठ, अफसर, विधायक, मंत्री आदि के घर जन्म लेने वाले बच्चे को जन्म से ही, अपने पिता के कुल के अनुसार सम्मान प्राप्त होता है। इस प्रकार जिस घर में जन्म मिलता है, उस घर की, उसके पूर्वजों की, उस घर के सदस्यों की, आजीविका के साधनों की, जो अच्छी या बुरी धारणा जन–साधारण में होती है, उसी को गोत्र–कर्म का प्रभाव कहते हैं। इसके दो भेद हैं – उच्च गोत्र, नीच गोत्र। नारकी और तिर्यंच में नीच गोत्र तथा देवता में उच्च गोत्र होता है। केवल मनुष्य गति में ही दोनों गोत्र संभव हैं।

यदि कोई बहुत सुन्दर, सर्वांग–पूर्ण काया वाला व्यक्ति, किसी तिरस्कृत कुल में जन्म लेता है, जहाँ वह खूब अच्छी प्रकृति पाता है, ज्ञानी भी है, धर्म में पराक्रम भी करता है आदि–आदि शेष चीजें भी अनुकूल हैं, तब हम कह सकते हैं कि उसने अपने पूर्व जन्म में अन्य कर्मों का उपार्जन तो शुभ रूप में किया, परन्तु गोत्र–कर्म का बंध नीच गोत्र के लिए किया। साधारणतया अपने कुल, खानदान का अभिमान करने वाले जीव अगले जन्मों के लिए नीच गोत्र का उपार्जन करते हैं।

8. अन्तराय कर्म – इसका शाब्दिक अर्थ है बाधा, रुकावट या विघ्न। जिस कर्म के कारण हमारे विभिन्न कार्यों में रुकावट आती हो, वह अन्तराय कर्म है। जैसे – किसी चीज में लाभ होने में, अपना पूरा पराक्रम दिखाने में, अपने उत्तम खाद्य–पदार्थों और सुविधा का भोग–उपभोग करने में। कभी–कभी ऐसा होता है कि किसी ऐसे काम में व्यस्त हो गये, या ऐसी स्थिति में फंस गये, कि सब साधन होते हुए भी, सवेरे से खाना–पीना नसीब नहीं हुआ, तो इसे अन्तराय कर्म का उदय कहेंगे। बड़ा प्रसिद्ध है कि भगवान ऋषभदेव को दीक्षा लेने के पश्चात्, लगभग 1 वर्ष तक आहार प्राप्त नहीं हुआ, यह उनके अन्तराय कर्म का फल था। यह कर्म उन्होंने अपने किसी पूर्व के जन्म में, खेत जोत रहे बैलों के मुँह पर, 12 घड़ी तक छींका बांधकर, उपार्जित किया था। अतः किसी दूसरे के कार्य में अन्तराय (विघ्न) डालने से, हम भविष्य के लिए अपने लिए भी अन्तराय कर्म का उपार्जन करते हैं। इसके 5 भेद होते हैं।

इस प्रकार आठ कर्मों के कुल 148 (5+9+2+28+4+93+2+5) भेद होते हैं, जिन्हें कर्म–प्रकृति भी कहते हैं।

11. ग्यारहवें बोले : गुणस्थान चौदह

1. मिथ्यात्व गुणस्थान
2. सास्वादन गुणस्थान
3. मिश्र गुणस्थान
4. अविरति सम्यक्–दृष्टि गुणस्थान
5. देश–विरति श्रावक गुणस्थान
6. प्रमादी साधु गुणस्थान
7. अप्रमादी साधु गुणस्थान
8. निवृत्ति–बादर गुणस्थान
9. अनिवृत्ति–बादर गुणस्थान
10. सूक्ष्म संपराय गुणस्थान
11. उपशान्त मोहनीय गुणस्थान
12. क्षीण मोहनीय गुणस्थान
13. सयोगी केवली गुणस्थान
14. अयोगी केवली गुणस्थान

आध्यात्मिक गुणों की दृष्टि से जीव (आत्मा) की, सबसे निकृष्ट स्थिति से सर्वोच्च, स्थिति के बीच के अन्तर को, चौदह श्रेणियों अथवा चरणों में बाँटा गया है। इन चरणों को ही गुणस्थान कहते हैं। आत्मा में अनन्त शक्ति है, अनेकों गुण हैं, लेकिन हमारे अशुभ कर्मों के कारण, विशेष रूप से मोहनीय कर्म के कारण, वे गुण दबे हुए होते हैं। जैसे–जैसे मोहनीय कर्म घटता है, वैसे–वैसे आत्मा के गुण बढ़ते जाते हैं, और जीव की तरक्की होती जाती है। अतः गुणस्थान से हम यह अर्थ भी लगा सकते हैं, कि जो जितने निचले गुणस्थान में है, उसमें मोहनीय कर्म की प्रबलता उतनी ही ज्यादा है, तथा जो जितने ऊँचे गुणस्थान में है, उसमें मोहनीय कर्म का जोर उतना ही कम हो चुका है। इसको हम एक जीने (सीढ़ी) की उपमा से भी समझ सकते हैं। जैसे नीचे से ऊपर जाने के लिए एक जीना होता है, उसकी विभिन्न पैड़ियों पर क्रमशः चढ़ते हुए, हम ऊपर की मंजिल पर पहुँच जाते हैं। उन पर चढ़ता हुआ कोई व्यक्ति, जितनी ऊपर की सीढ़ी पर होता है, हम उसे मंजिल के उतना नज़दीक, तथा भूमि से उतना ही ऊपर कहते हैं। इसी प्रकार मोक्ष मंजिल तक पहुँचने की भी 14 सीढ़ियाँ हैं। इन्हीं को हम गुणस्थान के नाम से जानते हैं। नीचे की तरफ दुर्गुण या मोहनीय कर्म अधिक, सद्गुण कम, तथा ऊपर की ओर सद्गुण अधिक, दुर्गुण या मोहनीय कर्म कम होते जाते हैं। यहाँ पर दुर्गुण का अर्थ कर्म बंध के कारणों से है, जिन्हें 'आस्रव' भी कहते हैं। ये मुख्यतया पाँच हैं – 1. मिथ्यात्व, 2. अव्रत, 3. प्रमाद, 4. कषाय, 5. अशुभ योग। अब इन गुणस्थानों की व्याख्या पर आते हैं :–

1. मिथ्यात्व गुणस्थान – आध्यात्मिक विकास की यह सबसे निकृष्ट स्थिति है। इस स्थिति

में जीवात्मा सबसे अधिक दरिद्र होती है। इसमें उपरोक्त दुर्गुण आत्मा में अपने पूरे वैभव के साथ विद्यमान होते हैं। उनमें भी मिथ्यात्व प्रमुख होता है। इस स्थिति का जीव पूर्णरूप से मिथ्यात्वी होता है अर्थात् सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म पर उसकी बिल्कुल श्रद्धा नहीं होती या इस विषय में उसकी समझ बिल्कुल उल्टी होती है। मुक्ति के मार्ग पर चलने की कोई इच्छा नहीं होती या फिर बिल्कुल उल्टे मार्ग पर चलता है। जब नीचे से ऊपर की ओर चलने की इच्छा ही नहीं है, या चढ़ने के मार्ग को ही नकार रहे हैं, तो हम सदा नीचे ही पड़े रहेंगे, उत्थान तो कल्पना से ही बाहर है। ऐसा ही है यह पहला गुणस्थान।

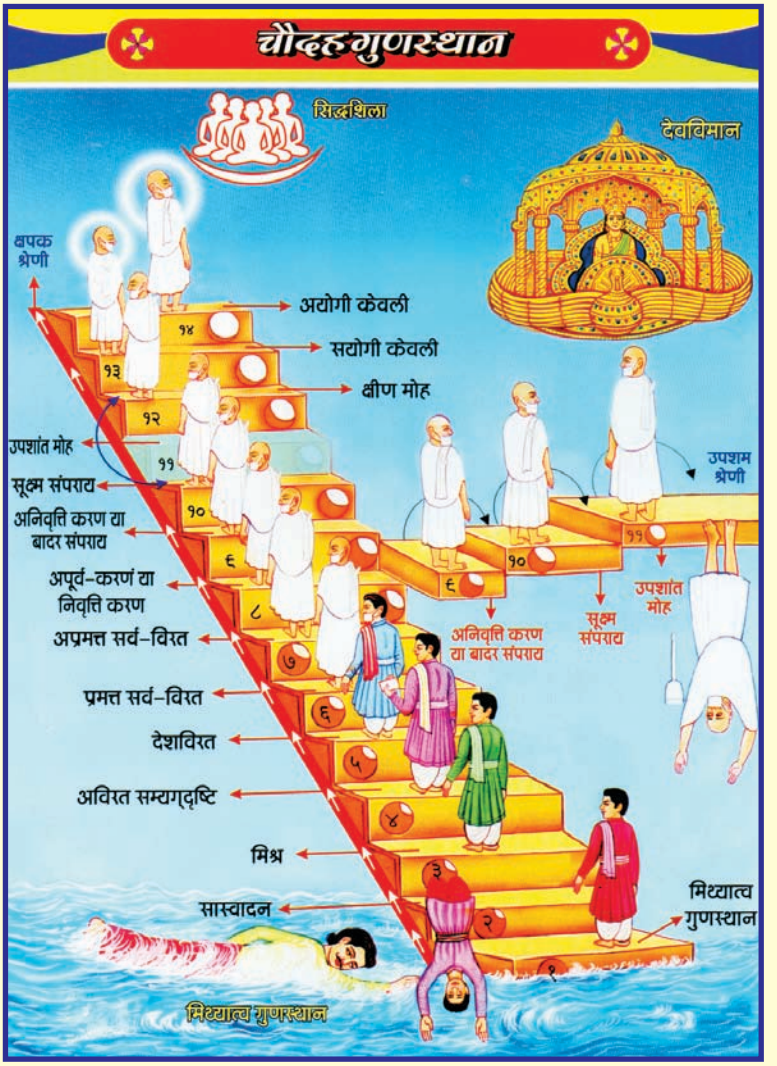

2. सास्वादन गुणस्थान – इसका शाब्दिक अर्थ है – स्वाद मात्र। जैसे घोर अंधकार में पड़े हुए प्राणी के लिए, क्षण भर की बिजली की एक चमक होती है। जिसने पहले कभी खीर नहीं खाई हो, उसे खीर मिले, और जरा–सा स्वाद लेते ही खीर छिन जाए, तो भी वह अल्प स्वाद उसको अनुभूति देता रहता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व में पड़े हुए जीव को सम्यक्त्व (श्रद्धा, सही समझ) प्राप्त हुई, परन्तु पुनः मिथ्यात्व ने पकड़ लिया, तो बीच की अल्प स्थिति को 'सास्वादन

गुणस्थान' कहते हैं। अपने सीढ़ी वाले उदाहरण में यह मान सकते हैं, कि सीढ़ियों की झलक तो दिखायी दी, या पैड़ी की तरफ कदम तो बढ़ाया, पर तुरन्त पीछे खींच लिया। इस गुणस्थान की प्राप्ति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसे प्राप्त करने वाला, चाहे गिर रहा हो, पर कभी न कभी मोक्ष अवश्य प्राप्त करेगा। ये गारण्टी इस गुणस्थान की देन है। इस गुणस्थान में कर्म बंध के 5 कारणों में से प्रथम मिथ्यात्व निकलकर, शेष चार रह जाते हैं।

3. मिश्र गुणस्थान – सम्यक्त्व के अंश के आने से, तथा मिथ्यात्व के अंश के कम होने से मिश्रित अवस्था, जो संज्ञी अर्थात् मन वाले जीवों में होती है, 'मिश्र गुणस्थान' कहलाती है। सम्यक्त्व बढ़ जाये, तो ये जीव चौथे की ओर बढ़ जाते हैं, घट जाये या मिथ्यात्व का अंश बढ़ जाये, तो ये जीव प्रथम गुणस्थान में गिर जाते हैं। ये वाली पैड़ी जरा डगमगाती हुई होती है। दृढ़ता रखने वाला, सन्तुलन (Balance) बनाये रखने वाला व्यक्ति, अगली पैड़ी पर पहुँच जाता है, तथा शिथिलता दिखाने वाला लड़खड़ा कर नीचे गिर पड़ता है।

दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान में अन्तर यह है कि सास्वादन गुणस्थान में अज्ञान नहीं होता, जबकि मिश्र में ज्ञान तथा अज्ञान दोनों होते हैं। इस दृष्टि से सास्वादन, मिश्र की अपेक्षा कुछ शुद्ध है। परन्तु सास्वादन गुणस्थान क्षणमात्र के लिए, तथा वहाँ से निश्चित रूप से मिथ्यात्व की ओर जाने वाला होता है। यह गुणस्थान असंज्ञी (बिना मन वालों) में भी होता है, जबकि मिश्र गुणस्थान अधिक समय के लिए होता है तथा वहाँ से मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनों ही रास्ते खुले होते हैं। यह गुणस्थान संज्ञी (मन वाले) जीवों में ही होता है, अतः इसे अपेक्षाकृत ऊँचा स्थान देकर तीसरा नं. दिया गया है। इस गुणस्थान में आध्यात्मिक रुचि तथा दृष्टि टिमटिमाती (Fluctuate) रहती है।

4. अविरति सम्यक्–दृष्टि गुणस्थान – सम्यक्त्व की प्राप्ति तथा व्रतों की अप्राप्ति के कारण यह नाम दिया गया है। इस गुणस्थान में जीव सम्यक्त्वी होता है अर्थात् देव, गुरु, धर्म के सही स्वरूप पर उसे श्रद्धा होती है। इस गुणस्थान में जीवों की धर्मरुचि बढ़ती है, जो इसी जन्म में, आगे के लिए या अगले जन्मों के लिए, धर्म में प्रवृत्त होने का आधार बनती है। परन्तु इस गुणस्थान का जीव धर्म में रुचि होने पर भी व्रत, नियम, त्याग, तपस्या आदि नहीं करता, यद्यपि उन्हें अंगीकार करने की इच्छा तो रहती है। अतः सम्यक्त्वी होने, परन्तु पाप–कर्मों से विरत न होने के कारण, इस गुणस्थान को अविरति सम्यक्–दृष्टि गुणस्थान नाम दिया गया है। इस

गुणस्थान में क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों की कठोरता तथा प्रबलता कम होती है, जिससे शुभ कर्म अधिक तथा अशुभ कर्म कम रह जाते हैं। अशुभ गतियों (नरक, तिर्यंच) में जाना रुकता है। शुभ गतियाँ (देव, मनुष्य) मिलती हैं। इस गुणस्थान का जीव व्रतों की चर्चा, व्याख्या आदि सुनने की रुचि रखता है, सुनता है, दूसरों को सुनाता है। जिन–वाणी पर अगाध श्रद्धा तथा रुचि रखता है, अतः श्रावक शब्द का मूल अर्थ यहाँ घटित हो जाता है। व्रत ग्रहण न करने पर भी, इसमें सप्त कुव्यसनों के प्रति घृणा तथा अन्य अव्रतों से छूटकर व्रत ग्रहण करने की ललक पैदा हो जाती है। अन्य अल्प–विरत व्यक्तियों को देखकर प्रमोद पैदा होता है। शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था, सम्यक्त्व के ये 5 लक्षण पैदा होते हैं, मोक्ष की ओर जाने तथा संसार से भागने की इच्छा, प्राणि–दया तथा आत्मा, परलोक, धर्म एवं मोक्ष के प्रति आस्था–रूप आस्तिकता पैदा होती है।

पहले चारों गुणस्थानों की परस्पर तुलना इस प्रकार भी की जा सकती है –

(क) मिथ्यात्व = रात्रि का अन्धकार, सास्वादन = संध्या का धुँधलापन (झुटपुटा)। मिश्र = प्रातः–संध्या दोनों का झुटपुटा तथा सम्यक्त्व = दिन के उजाले के समान है।

(ख) मिथ्यात्व = निपट अंधापन, सास्वादन = आँख खुलकर पुनः बंद हो जाना, मिश्र = कुछ दिखे, कुछ न दिखे, कभी दिखे कभी न दिखे, तथा सम्यक्त्व = आँखों का पूरी तरह खुलने के समान है।

(ग) मिथ्यात्व = बेहोशी, सास्वादन = होश में आकर पुनः बेहोशी में डूब जाना, मिश्र = अर्द्ध मूर्च्छा या नीम बेहोशी तथा सम्यक्त्व = होश में आने के समान हैा।

(घ) मिथ्यात्व = मुँह के कड़वेपन के समान, सास्वादन = कुछ मिठास तथा पुनः कड़वेपन की ओर जाने के समान, मिश्र = मधुर–कटु या खट्टे–मीठे के समान एवं सम्यक्त्व = पूर्ण मधुरता के समान है।

5. देश–विरति श्रावक गुणस्थान – सम्यक् दृष्टि होने के साथ–साथ जब जीव कोई नियम पच्चक्खाण या व्रत भी ग्रहण करने लग जाता है, तब देश–विरति श्रावक गुणस्थान होता है। यह गुणस्थान गृहस्थ श्रावकों का है। वैसे कुछ संज्ञी (मन वाले) तिर्यंच पंचेन्द्रिय अर्थात् पशु–पक्षी भी, अपने पूर्व जन्म के शुभ संस्कारों के कारण, इस गुणस्थान में आ सकते हैं। इसमें हिंसा, असत्य, चोरी आदि 18 पाप कम या अधिक मात्रा में छूटते हैं, परंतु पूर्ण रूप से नहीं।

गृहस्थ में रहकर भी जितना–जितना त्याग सम्भव हो, उस ओर प्रगति चालू रहती है। इस गुणस्थान के नाम में देश शब्द का अर्थ अल्प या आंशिक रूप से है, तथा विरति का अर्थ त्याग, नियम, पचक्खाण एवं पापों से दूरी से है। अतः जो आंशिक रूप से इस मार्ग पर चले, वह इस गुणस्थान में आता है तथा श्रावक कहलाता है। पूर्णरूप से पापों से विरति (त्याग) तो, 5 महाव्रतधारी साधु ही कर सकता है। श्रावक केवल आंशिक रूप से ही त्याग कर सकता है, यद्यपि उस अंश की सीमा भी काफी आगे तक हो सकती है। श्रावक शब्द जैन धर्म का विशिष्ट शब्द है। इसका अर्थ भी व्यापक है। सामान्य रूप से तो जैन कुल में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को श्रावक कह दिया जाता है, चाहे वह मिथ्या–दृष्टि ही क्यों न हो, क्योंकि जैन कुल के संस्कारों के कारण, जैन साधना को देखकर उसे अच्छा समझने से, अपने कुल की परम्परा मानकर भी, वह कुछ–न–कुछ मर्यादा में तो रहता ही है। जैन वेष, जैन तीर्थंकर, जैन मुनियों, जैन संस्थाओं, जैन समारोहों या सभाओं से प्रेम रखने के कारण व्यावहारिक दृष्टि से सभी जैन 'श्रावक' कहलाते हैं। इस प्रकार से श्रावक शब्द एक प्रकार से 'जैन' के पर्यायवाची के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। कुव्यसनों का त्याग करने वाले 'सामान्य श्रावक', कुछ व्रत ग्रहण करने वाले 'व्रती श्रावक', 12 व्रत ग्रहण करने वाले '12 व्रती श्रावक' तथा साधु जैसी कुछ विशेष जटिल प्रतिज्ञा, ध्यान तथा समाधि की साधनाएँ करने वाले 'प्रतिमाधारी श्रावक' कहलाते हैं। वैसे शास्त्रीय दृष्टि से तो श्रावक के 12 व्रतों में से, कम–से –कम एक व्रत अंगीकार करने वाला ही श्रावक कहलाता है।

6. प्रमादी साधु गुणस्थान – श्रावक से आगे की अवस्था है – सब कुछ छोड़कर साधु बन जाना। श्रमण, अणगार, मुनि, संयत, भिक्षु, यति, सन्त, संयमी, महाराज आदि साधु के पर्यायवाची शब्द हैं। जो पाँच महाव्रत का पालक अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह का पूर्णरूप से त्यागी हो, वही साधु है। इस गुणस्थान में वे साधु गिने जाते हैं, जिनमें अपने महाव्रतों, ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय के प्रति सावधानी एवं जागरूकता में कुछ कमी होती है, जिसके कारण कभी–कभी अल्प दोष भी लग जाता है, जिसकी प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि कर ली जाती है।

7. अप्रमादी साधु गुणस्थान – जैसे थका हुआ मुसाफिर विश्राम चाहता है, यह प्रमाद है। उसी को जब मंजिल पर पहुँचने का विचार आता है, तो कदमों में तेजी आ जाती है। इसी को अप्रमाद कहते हैं। जब महाव्रत धारण करने के बाद एकदम सावधानी, जागरूकता आ जाये,

उस समय को 7वाँ गुणस्थान कहते हैं। वैसे तो प्रमाद का बहुत मोटा अर्थ आलस्य से लिया जाता है, परन्तु ज्ञानी फरमाते हैं कि जिस कार्य से आत्म–कल्याण हो, उसको न करके, अन्य कार्य में लगे रहना ही प्रमाद है।

सभी बातों को छोड़कर स्वाध्याय में लगे रहना, क्लेश–कलह से बचना, विषयेच्छा से परे होकर आत्म–रमण करना, इसी गुणस्थान की विशेषता है। जीवन में यह बहुत उच्चता, निर्मलता की स्थिति है।

छठा तथा सातवाँ गुणस्थान एक–दूसरे के बाद आते–जाते रहते हैं। कभी छठा, कभी सातवाँ। छठा अधिक देर, सातवाँ थोड़ी देर, प्रायः ऐसा होता है। प्रायः एक मुहूर्त (48 मिनट) से ज्यादा सातवाँ गुणस्थान टिकता नहीं है। तीर्थंकर जैसे विशिष्ट साधकों में छठा थोड़ी देर और सातवाँ अधिक समय तक रहता है। जिस क्षेत्र में, जिस समय, मोक्ष सम्भव नहीं होता (जैसे – भरत क्षेत्र में वर्तमान समय में) वहाँ साधना यहीं तक बन पाती है, इससे आगे नहीं। जीव आगे की पैड़ी के नजदीक पहुँच जाता है, पर पैड़ी पर चढ़ नहीं पाता, ऐसा बार–बार होता है।

मोक्ष–मंजिल के जीने में यहाँ से आगे के चार गुणस्थान 8, 9, 10, 11, सीढ़ी के डंडे के रूप में हैं, पैड़ी के रूप में नहीं। जैसे पैड़ी पर कुछ देर ठहरा जा सकता है, आराम किया जा सकता है, परन्तु ऊपर चढ़ते समय सीढ़ी के डंडे पर ज्यादा देर ठहरा नहीं जा सकता, चढ़ना या उतरना ही होता है। ऐसी ही स्थिति इन चार गुणस्थानों की है। अतः इन्हें ''श्रेणी गुणस्थान'' भी कहते हैं। इन गुणस्थानों की विशेषता यह है कि इनमें आठों कर्मों के सेनापति मोहनीय कर्म का, या तो केवल उपशम (दबाना) किया जाता है, या केवल क्षय (नष्ट करना) किया जाता है। क्षयोपशम (कुछ दबाना तथा कुछ नष्ट करना साथ–साथ) नहीं हो सकता। इससे पूर्व के गुणस्थानों में यद्यपि मोहनीय कर्म तथा चार कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) का क्षय तथा उपशम साथ–साथ चलता रहता है, परन्तु यहाँ से आगे कोई एक कार्य ही हो सकता है। जो जीव इनका क्षय करते हुए ऊपर चढ़ते हैं, उनकी चढ़ाई को 'क्षपक श्रेणी' तथा जो दबाते हुए उपशम करते हुए चलते हैं, उसे 'उपशम श्रेणी' कहते हैं। यहाँ पर विशेष ध्यान और विशेष महत्व की बात है कि जो 'उपशम श्रेणी' चढ़ते हैं, वे 11वें से आगे नहीं चढ़ सकते, वहाँ से नीचे अवश्य गिरते हैं तथा जो 'क्षपक श्रेणी' चढ़ते हैं, वे अवश्य ही ऊपर मंजिल तक पहुँचते हैं, और केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं।

इसके पीछे कारण यह है कि 'उपशम' ढकी आग के समान है। जैसे आग की लपटों को तो दबा दिया, परन्तु चिंगारी शेष हो, तो वह भी हानिकारक ही है। रूई, घास, कपड़े आदि के सम्पर्क में आने, तथा हवा पाने पर चिंगारी, सब कुछ जलाकर भस्म कर देती है। इसी प्रकार कषाय, मोहनीय कर्म आदि को दबाये रखकर जीव, यद्यपि 11वें गुणस्थान जैसे उच्च स्थान तक तो पहुँच सकता है, परन्तु वहाँ से उसे नीचे गिरना ही गिरना पड़ेगा। 12वें गुणस्थान में प्रवेश (Entry) उसी को मिलता है, जिसने इनका क्षय कर दिया हो।

क्षपक और उपशम श्रेणी को हम निम्न उदाहरणों द्वारा भी समझ सकते हैं –

(क) शत्रु या शहर के गुण्डे भाग जायें, और पुनः हमला करने की ताक में कहीं छुप जायें, तो उपशम। मौत के घाट उतर जायें, तथा पुनः उठने की सम्भावनाएँ समाप्त हो जायें, तो क्षपक।

(ख) रोग दब जाये तो उपशम, खत्म हो जाये तो क्षपक।

(ग) पानी में मैल नीचे बैठ जाये तो उपशम, तथा पानी को नितारकर मैल अलग कर दिया जाये, तो क्षपक।

(घ) कबड्डी खेलते समय हारने वाले अलग बैठते चले जाते हैं। इस बैठने को 'मरना' भी कहते हैं। वे बैठे हुए या मरे हुए पुनः उठ जाते हैं। परन्तु युद्ध में मर गये तो मर गये, पुनः उठने का प्रश्न नहीं। यही क्षपक तथा उपशम का अन्तर है।

8. निवृत्ति–बादर गुणस्थान अथवा अपूर्वकरण – 7वें गुणस्थान से ऊपर जाने के अवसर किसी जीव के कभी–कभी ही आते हैं। अतः 8वें गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण भी है अर्थात् जो पहले कभी न हुआ हो। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों, कषायों तथा नोकषायों के साथ निर्णायक युद्ध शुरू हो जाता है तथा 9वें गुणस्थान में उसका बहुत–सा कार्य सम्पन्न हो जाता है।

9. अनिवृत्ति–बादर गुणस्थान – इसे अनिवृत्तिकरण भी कहते हैं। आत्म–परिणाम समान रूप से कषाय–प्रतिरोधक हो जाते हैं। जहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा ध्याता, ध्यान और ध्येय, इन तीनों की निवृत्ति (भिन्नता) रहे, वह निवृत्ति–बादर गुणस्थान है। परन्तु जहाँ आत्म–परिणाम इतने शुद्ध हो जायें, कि इन तीनों की भिन्नता न रहकर अभिन्नता (अनिवृत्ति) हो जाए, वह अनिवृत्ति–बादर गुणस्थान होता है।

10. सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान – इस गुणस्थान में मात्र सूक्ष्म लोभ बाकी रहता है, वह भी

इतना सूक्ष्म कि उसके कारण कर्म–बंध तक न हो। इस सूक्ष्म लोभ को भी उपशांत या क्षीण करने की प्रक्रिया चलती रहती है। इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ के अतिरिक्त, मोहनीय कर्म की शेष सभी प्रकृतियाँ, पूर्णरूप से क्षय अथवा उपशम हो चुकी होती हैं।

11. उपशांत मोहनीय गुणस्थान – पहले जो सूक्ष्म लोभ बाकी रह गया था, उसकी दो स्थितियाँ होंगी – एक उपशम की, एक क्षय की। जो जीव श्रेणी के शुरू से अर्थात् 8वें गुणस्थान से ही, मोहनीय कर्म का उपशम करते आ रहे हैं, वे सूक्ष्म लोभ का भी उपशम ही करेंगे और जो क्षय करते आ रहे हैं, वे सूक्ष्म लोभ का भी क्षय ही करेंगे। जो सूक्ष्म लोभ का उपशम करके मोहनीय–रहित हुए हैं, उनकी अवस्था को उपशान्त मोहनीय गुणस्थान कहते हैं। अब इस गुणस्थान की स्थिति ऐसी है कि मोहनीय कर्म पूरी तरह दबा हुआ है। थोड़ी देर बाद वह अवश्य ही उभरेगा अर्थात् मोहनीय कर्म का उदय होगा और जीव के गुणस्थानों का पतन प्रारम्भ हो जायेगा। गुणस्थान–काल पूरा होने पर पहले सूक्ष्म लोभ का उदय होता है। जीव 11वें, 10वें, 9वें, 8वें में होता हुआ 7वें में पहुँच जाता है। यदि वहाँ से भी गिरता जाये, तो पहले गुणस्थान मिथ्यात्व में भी पहुँच सकता है तथा वहाँ पहुँचकर संसार में रुलता है। यदि संभलकर क्षपक श्रेणी कर ले, तो ऊपर उठता हुआ केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

12. क्षीण मोहनीय गुणस्थान – जिस जीव ने शुरू से ही मोहनीय का क्षय (समूल नाश) प्रारम्भ कर दिया है, वह सूक्ष्म लोभ का भी क्षय कर देगा। उस समय की अवस्था को क्षीण मोहनीय कहते हैं। इस प्रकार के जीव का 10वें गुणस्थान से 12वें गुणस्थान में सीधा प्रवेश (Direct entry) हो जाता है। 11वाँ गुणस्थान खतरे का है, वहाँ पर तो उपशम श्रेणी वाला ही पहुँचेगा तथा उसे वहाँ से गिरना ही है। 12वें गुणस्थान में चार घाती कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय) में से सबसे बड़ा मोहनीय कर्म तो बिल्कुल समाप्त हो चुका है, शेष 3 घाती कर्मों को खपाने की प्रक्रिया चालू रहती है। जब तक ये नहीं खपें, जीव 'छद्मस्थ' कहलाता है। इनके नष्ट होने में भी कोई देर नहीं है। जब तक ये तीन बाकी रहें, उस बीच के थोड़े समय को 12वाँ गुणस्थान कहते हैं।

13. सयोगी केवली गुणस्थान – बड़े स्वाभाविक तरीके से जब चारों ही घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप, उसके स्वभाविक गुण – अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति प्रकट हो जाते हैं। मन, वचन, काया के योग अत्यन्त शुद्ध भाव में चलते

हैं। केवल ज्ञानी मन की क्रिया से किसी का मानसिक समाधान करते हैं। वचन योग से अपने वीतराग विज्ञान को उपदेशों द्वारा बाँटते हैं। काया योग द्वारा विहार करते हैं तथा जीवन–संचालन मात्र के लिए आहारादि की सामान्य क्रियाएँ करते हुए सयोगी कहलाते हैं। इस गुणस्थान में मन, वचन, काया तीनों का योग (क्रियाएँ) मौजूद होने से सयोगी, तथा केवल ज्ञान प्रकट होने के कारण केवली कहलाते हैं। अब चार अघाती कर्म वेदनीय, नाम, गोत्र तथा आयुष्य ही शेष रह जाते हैं। जितना भी आयुकाल शेष है, उसे इसी प्रकार व्यतीत करते हुए, जीवन–समाप्ति की प्रक्रिया शुरू करते हैं।

14. अयोगी केवली गुणस्थान – जब वर्तमान आयु समाप्त होने को आती है, तो उससे ठीक पहले, केवल ज्ञानी भगवान् अपने मन, वचन, काया की सूक्ष्म, स्थूल सभी हलचलों को रोकते हैं और सुमेरु पर्वत, जिसे 'शैलेश' भी कहते हैं, के समान निश्चल अवस्था रह जाती है। अतः इस अवस्था को 'शैलेशी अवस्था' भी कहते हैं। पाँच ह्रस्व अक्षरों अ, इ, उ, ऋ, लृ को बोलने में जितना समय लगता है, उतने समय तक यह गुणस्थान रहता है। चार अघाती कर्मों के घात की प्रक्रिया चालू रहती है तथा उसके बाद जीवात्मा इस लोक के ऊपरी भाग पर जाकर, सदा–सदा के लिए स्थित हो जाती है। इसे ही मोक्ष कहते हैं। ध्यान रहे कि मोक्ष प्राप्ति 14वें गुणस्थान में नहीं, अपितु उससे ऊपर की स्थिति है।

12. बारहवें बोले : पाँच इन्द्रियों के 23 विषय एवं 240 विकार

हम अपनी इन्द्रियों द्वारा ज्ञान ग्रहण करते हैं। इन्द्रियाँ भी अपनी–अपनी सीमा में ही वस्तु के किसी एक पहलू को जानती हैं, जैसे – आँख रंग–रूप को देख सकती है। कान सुन ही सकते हैं, देख या सूँघ नहीं सकते। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय का अपना–अपना दायरा, क्षेत्र या विषय होता है। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के पाँच अलग–अलग क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों के भी आगे भेद कर दिये गये हैं, जिन्हें हम 'विषय' कहते हैं। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के कुल 23 विषय हैं।

1. श्रोत्रेन्द्रिय के 3 विषय तथा 12 विकार –

1. जीव शब्द, 2. अजीव शब्द, 3. मिश्र शब्द

श्रोत्रेन्द्रिय का कार्य सुनना तथा उसका मुख्य विषय आवाज या ध्वनि है, जिसे 'शब्द' भी कहते हैं। शब्द–कर्त्ता के आधार पर इसके 3 भेद हैं –

जीव शब्द – मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीवों की बोली को जीव शब्द कहते हैं।

अजीव शब्द – अजीव पदार्थों के टूटने–फूटने, टकराने की आवाज को अजीव शब्द कहते हैं जैसे – मोटर की गड़गड़ाहट, पत्थरों का टकराना आदि।

मिश्र शब्द – जीव के मुख्य प्रयत्न से, अजीव से निकलने वाली आवाज, जैसे – वीणा या बाँसुरी की तान आदि।

विकार – ये तीन शुभ, तीन अशुभ, इस प्रकार छह तथा इन छहों को सुनने से होने वाला राग या द्वेष। 3 × 2 × 2 = 12 इस प्रकार 12 विकार हैं। यहाँ विकार का अर्थ है – मन की अच्छी–बुरी भावना। किसी भी इन्द्रिय का जो विषय, उस इन्द्रिय के द्वारा जब ग्रहण किया जाता है, तो उस विषय को ग्रहण करने पर मन में जो तरंगें उत्पन्न होती हैं, वे विकार हैं। जो शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श अपनी ग्राहक इन्द्रिय के लिए अनुकूल पड़ें, वे शुभ। जो प्रतिकूल पड़ें, वे अशुभ होते हैं। वे ही शुभ–अशुभ विषय मन के अनुकूल पड़ें, तो राग–वर्धक। यदि नापसन्द हो जाएं, तो द्वेष–वर्धक हो जाते हैं। मन के स्तर पर जाने के बाद ही सभी विषय, विकार की श्रेणी में आते हैं, उससे पहले नहीं। जैसे मनुष्य का विलाप (रुदन) जीव शब्द है। नवजात बच्चे का जन्म के तुरन्त बाद रोना शुभ का सूचक है, जिस पर हमें तुरन्त राग उत्पन्न हो जाता है। यदि हमारे किसी शुभ कार्य के समय कोई विलाप करने लगे, तो उस पर हमें द्वेष उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार अन्य विकारों के विषय में समझना चाहिये। आगे के विषयों में विकारों को केवल संक्षेप में ही बताया जायेगा, अन्यथा इस व्याख्या के काफी विस्तृत हो जाने की सम्भावना है।

2. चक्षुरिन्द्रिय के 5 विषय तथा 60 विकार –

1. काला, 2. नीला, 3. लाल, 4. पीला, 5. श्वेत

आँख देखने का कार्य करती है। हमें प्रकाश की सहायता से दिखायी देता है, तथा रंग वाली चीज ही दिखायी देती है। विज्ञान के अनुसार प्रकाश जब किसी वस्तु से टकराता है, तो अपने स्वभाव के अनुसार वस्तु प्रकाश के कुछ रंगों को अपने अन्दर सोख लेती है, तथा कुछ रंगों को परावर्तित कर हमारी आँखों तक भेज देती है। जो रंग हमारी आँखों तक भेजे जाते हैं, वहीं उस वस्तु के रंग कहलाते हैं। इसी रंग के आधार पर उस वस्तु की स्पष्ट, विशिष्ट आकृति हमें दिखायी पड़ती है। अतः जितना भी दृश्य–संसार हम देखते हैं, उस देखने की क्रिया में रंग का ही महत्व होने के कारण, आँख का क्षेत्र (विषय) रंग को माना गया है। जैन शास्त्रों में मौलिक रंग 5 माने गये हैं, इन्हीं को मिलाकर हजारों–लाखों अन्य रंग तथा उनके शेड्स बनाये जा सकते हैं।

विकार – ये पाँच सचित्त रूप (जीव) तथा पाँच अचित्त रूप और 5 मिश्र रूप। ये 15 अशुभ तथा 15 शुभ, इस प्रकार 30 तथा इन 30 पर राग तथा द्वेष इस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के 60 विकार हैं। (5 x 3 x 2 x 2 = 60)

3. घ्राणेन्द्रिय के 2 विषय तथा 12 विकार – नाक का विषय = क्षेत्र गंध है। वह दो प्रकार की हो सकती है – 1. सुरभिगन्ध (सुगन्ध), 2. दुरभिगन्ध (दुर्गन्ध)। ये 2 सचित्त, 2 अचित्त, 2 मिश्र, इस प्रकार 6, इन 6 पर राग तथा द्वेष इस प्रकार कुल 12 विकार होते हैं। (2 x 3 x 2 = 12)

4. रसनेन्द्रिय के 5 विषय तथा 60 विकार – जीभ का कार्य स्वाद लेना है। वह मूल रूप से 5 प्रकार का माना गया है – 1. तीखा, 2. कड़वा, 3. कषैला 4. खट्टा, 5. मीठा। यद्यपि कुछ और भी रस हमें महसूस होते हैं, परन्तु वे किसी–न–किसी प्रकार से इन पाँचों में ही शामिल हो जाते हैं।

जीभ का एक काम बोलना भी है, परन्तु उसको विषय नहीं माना गया, क्योंकि इन्द्रिय का कार्य बाह्य जगत् से हमको परिचित कराना है। यों तो हम आँखों से पढ़ते हैं, हँसने, मुस्कराने और गुस्से का भी परिचय देते हैं। ये सब हमारे द्वारा किये जाने वाले कार्य हैं, हमें होने वाले ज्ञान नहीं। हाथों से काम करना, पैरों से चलना आदि इन अंगों के कार्य हैं। हम कार्यों के आधार पर, इन अंगों की गिनती इन्द्रियों में नहीं कर सकते। कुछ भारतीय दर्शनों ने 5 कर्मेन्द्रियों की मान्यता दी है, उपर्युक्त कार्य उन कर्मेन्द्रियों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रियों का कार्य ज्ञान प्राप्त करना है, इसीलिए इन इन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रियां भी कहते हैं।

विकार – ये 5 सचित्त, 5 अचित्त तथा 5 मिश्र, इस प्रकार 15, ये 15 शुभ, 15 अशुभ, इस प्रकार 30, इन 30 पर राग तथा 30 पर द्वेष इस प्रकार 60 (5 x 3 x 2 x 2 = 60)

5. स्पर्शेन्द्रिय के 8 विषय तथा 96 विकार – 1. कर्कश (खुरदरा), 2. कोमल, 3. हल्का, 4. भारी, 5. ठण्डा, 6. गर्म, 7. रूक्ष (रूखा), 9. स्निग्ध (चिकना)। इसका अर्थ है कि हमारा पूरा शरीर, किसी वस्तु के स्पर्श से इन आठ प्रकारों को अनुभव कर सकता है।

विकार – ये 8 सचित्त, 8 अचित्त, 8 मिश्र। इस प्रकार 24, ये 24 शुभ, 24 अशुभ, इस प्रकार 48, इन 48 पर राग और 48 पर द्वेष। इस प्रकार 96 विकार होते हैं। (8 x 3 x 2 x 2 = 96)

इस प्रकार 5 इन्द्रियों के कुल 3 + 5 + 2 + 5 + 8 = 23 विषय तथा 12 + 60 + 12 + 60 + 96 = 240 विकार होते हैं।

13. तेरहवें बोले : मिथ्यात्व के दस भेद

1. जीव को अजीव समझना, 2. अजीव को जीव समझना, 3. धर्म को अधर्म समझना, 4. अधर्म को धर्म समझना, 5. साधु को असाधु समझना, 6. असाधु को साधु समझना, 7. मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग समझना, 8. संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना, 9. आठ कर्मों से मुक्त को अमुक्त समझना, 10. आठ कर्मों से अमुक्त को मुक्त समझना।

मिथ्यात्व अर्थात – आध्यात्मिक विकास के मार्ग में जानने योग्य और श्रद्धा किये जाने योग्य विषयों में विपरीत दृष्टि रखना ही मिथ्यात्व है। मोक्ष में सबसे बड़ी बाधा कर्म–बन्ध है और कर्म–बन्ध के कारणों में पहला और मुख्य कारण मिथ्यात्व है। कुल पाप 18 बताये गये हैं। इनसे सबसे बड़ा पाप 18वें नम्बर वाला मिथ्यादर्शन–शल्य (अर्थात् मिथ्यात्व) ही है। मोहनीय कर्म के कारण मिथ्यात्व पैदा होता है और आठों कर्मों का सेनापति मोहनीय कर्म को कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार में भटकने का मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का सरल और स्पष्ट अर्थ है सही को गलत मानना और गलत को सही मानना। ऐसी मानसिक स्थिति कभी तो अज्ञानवश होती है, कभी आग्रहवश, कभी कुशिक्षण के कारण, कभी मानसिक अविकास या पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण।

आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रत्येक विषय पर सूक्ष्मता से विचार करना होता है। इस विषय में 'नास्तिक' तथा 'आस्तिक' दो शब्दों का अधिक प्रयोग होता है। आस्तिक वो, जो आत्मा व परलोक को माने, और नास्तिक वह, जो इन्हें न माने। किन्तु सम्यक्त्व और मिथ्यात्व शब्द और अधिक गहराई तक जाते हैं। आत्मा को मानने वाले भी, यदि आत्मा तथा धर्म के स्वरूप को ठीक न समझें, तो ये मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व की परिभाषा में कहा जाता है कि देव, गुरु और धर्म के सही स्वरूप को न समझना मिथ्यात्व है। इन 3 विषयों से ही ये 10 विषय बने हैं –

1. जीव को अजीव समझना – जीव को अजीव मानने की भ्रान्ति या मिथ्यात्व प्रायः एकेन्द्रिय जीवों के विषय में होता है, क्योंकि उनमें जीव के लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होते। दूसरा, एकेन्द्रिय जीवों का हमारे जीवन में बहुत ज्यादा उपयोग होता है, और साधारण मानव की प्रवृत्ति ऐसी होती है कि अधिक उपयोग में या खाने में आने वाले जीवों को जीव ही नहीं मानते। बहुत लम्बे समय तक वनस्पति को अजीव ही माना जाता था, पर अब स्थिति बदल गयी है। आग, पानी, हवा तथा मिट्टी को जिन्दा मानने वाले आज भी बहुत कम लोग है। यह भी एक प्रकार का मिथ्यात्व है। बिजली, दाख, केला आदि को कुछ विचारक अजीव मानते हैं। इसके पीछे आग्रह या अज्ञान दोनों हो सकते हैं। आधुनिक युग में अनिषेचित अण्डे को शाकाहारी या निर्जीव कहने वाले भी इसी मिथ्यात्व के शिकार हैं।

2. अजीव को जीव समझना – अजीव को जीव समझने की प्रवृत्ति प्रायः जड़ पदार्थों या अन्य इसी प्रकार की वस्तुओं को पूजने वाले व्यक्तियों में पायी जाती है। जड़ वस्तु को जीवित मानकर उसे भोजन पानी देना, सुलाना, नहलाना, जगाना आदि क्रियाएँ करना, और इस बात का भी आग्रह करना कि यही भगवान् हैं, यह मिथ्यात्व है। मूर्ति को मूर्ति मानना, स्मारक को स्मारक मानना, उसके सामने ध्यान करना, या उसके माध्यम से शान्ति प्राप्त करने का प्रयास करना अलग बात है, और उसे जीवित मानना अलग बात।

एक नये प्रकार की और मान्यता वैज्ञानिक क्षेत्रों में बढ़ती जा रही है, वह है बैक्टीरिया की। इसी आधार पर वे कच्चे दूध, दही आदि को भी जीवित मानते हैं। जीवित कोशिकाओं की मान्यता पूर्णतः शास्त्र–सम्मत नहीं है। दही आदि के अन्दर जिनको बैक्टीरिया कहा जाता है, वे वास्तव में खटाई के सूक्ष्म कण हैं, जो बड़ी तीव्र गति से अपने सम्पर्क में आने वाले कणों को भी खट्टा बनाते चलते हैं तथा इस प्रकार परिवर्तित खट्टे कण भी तीव्र गति से दूसरे कणों को

खट्टा बनाते हैं। खट्टे कणों की यह तीव्र गति ही सूक्ष्मदर्शी से ऐसी प्रतीत होती है, मानो छोटे–छोटे जीव गति कर रहे हों, जबकि ऐसा नहीं है। इस प्रकार की घटनाओं के आधार पर अजीव को जीव मानना भी मिथ्यात्व है।

3. धर्म को अधर्म मानना – जैसे जोश में आकर अहिंसा को कायरता बताना, तप को आत्मपीड़ा कहकर हिंसा की श्रेणी में रखना, ब्रह्मचर्य को सन्तानोत्पत्ति में बाधक मानकर हेय मान लेना। संयम के लिए अथवा हिंसा से बचने के लिए, कोई स्नान करने का त्याग करे, तो उसमें अधर्म मानना तथा बिना स्नान किए उसके द्वारा की गई धार्मिक क्रियाओं को दोषपूर्ण मानना। संलेखना–संथारा (समाधि–मरण) को आत्महत्या बताना आदि, धर्म को अधर्म मानना है तथा मिथ्यात्व है।

4. अधर्म को धर्म मानना – इस तरह की मान्यता वालों का तो अन्त ही नहीं है। आज धर्म को सबसे बड़ा खतरा भी इसी तरह के अंध श्रद्धालुओं से है, जो अपने को धार्मिक तो कहते हैं, परन्तु क्रियाएँ सब अधर्म की करते हैं। पशु–बलि, नर–बलि के रूप में घोर हिंसा करना, फिर उसमें धर्म मानना। कुछ धर्मों ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी, कि हमारी पद्धति के अनुसार की गयी हिंसा, हिंसा नहीं है। आज भी धर्मयुद्धों के नाम पर अन्य धर्मियों का कत्ले–आम किया जाना, आतंकवादी गतिविधियों में संलिप्त होना इसी मिथ्यात्व के नमूने हैं। आत्मदाह करने वाली नारी को सती मानना, इसमें धर्म मान लेना भी सम्यक्त्व की निशानी नहीं है।

5. साधु को असाधु समझना – जब कोई व्यक्ति साम्प्रदायिक आग्रह के वशीभूत हो जाता है, तो उसे सच्चे साधु के प्रति भी श्रद्धा नहीं उमड़ती। कभी–कभी भोगवादी लोग सच्चे साधुओं को पाखण्डी, निठल्ले या भिखारियों की तरह बोझ मान लेते हैं, तथा कभी–कभी तो उन्हें प्रताड़ना या यातनाओं का शिकार भी बना लेते हैं। यह असहिष्णुता कभी–कभी व्यापक बन कर पूरे समाज को प्रभावित कर देती है। इस प्रकार साधु को साधु न मानकर उसका तिरस्कार करना, उस पर श्रद्धा न रखना मिथ्यात्व है।

6. असाधु को साधु समझना – जिन व्यक्तियों के पास नारी हो, धन हो, नशा करते हों, परिवार हो, उन्हें साधु मानकर पूजना, उन पर भक्ति रखना मिथ्यात्व है। झूठे चमत्कार दिखाना, भभूत देना, गण्डे, ताबीज या तंत्र–मंत्र देकर बहकाना, धन ऐंठना, सत्ता के लालच में षड्यंत्र रचना और आपराधिक कार्य करना, कार, बंगलों में ऐश करना, माफिया ग्रुप संचालित करना, ऐसे

लोगों को साधु मानना, गुरु मानना, न केवल घोर मिथ्यात्व है, अपितु सामाजिक अपराध भी है।

इसी प्रकार साधु के व्रत–नियम लेकर आराम के वशीभूत हो, आधुनिकता की चकाचौंध में, अपने व्रत–नियमों से बिल्कुल किनारा कर लेने वालों को भी साधु मानना मिथ्यात्व ही है।

7. संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना – जिन आचरणों से जीव मोक्ष–प्राप्ति की बजाय संसार–चक्र में ही और अधिक फँसता जाए, उस आचरण को भी मुक्ति– साधक मान लेना मिथ्यात्व है। जैसे संभोग से समाधि–प्राप्ति की बातें करना, पशु– बलि देकर अपने इष्ट देव या भगवान् की प्राप्ति मानना, विभिन्न प्रकार की आडम्बर–युक्त क्रियाओं के माध्यम से पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति, अग्नि या छोटे–छोटे त्रस जीवों की हत्या का कारण बनकर भी, उससे मोक्ष की प्राप्ति मानना। जिस प्रकार रक्त से सने हुए वस्त्र को, रक्त से धोने पर शुद्धि सम्भव नहीं, उसी प्रकार पाप क्रियाओं से अपना संसार–भ्रमण बढ़ाने वाले की मुक्ति, पुनः हिंसा की क्रियाओं से संभव नहीं है।

8. मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग समझना – जो वेष, धार्मिक उपकरण, धार्मिक क्रियाएँ मोक्ष– प्राप्ति में साधक हैं, उन्हीं को मोक्ष–प्राप्ति में बाधक मानना भी मिथ्यात्व है। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार केशों का लुंचन, पैदल विहार, स्नान न करना, सामायिक करना आदि क्रियाओं को मोक्ष–प्राप्ति में बाधक मानना भी मिथ्यात्व का परिचायक है।

9. 8 कर्मों से मुक्त को अमुक्त समझना – जो आत्माएँ आठों कर्मों को खपाकर मोक्ष पहुँच गयी हैं, उन्हें अभी संसार में ही समझना मिथ्यात्व है। चाहे वह आत्मा नारी हो या पुरुष। अर्जुनमाली जैसे महान मुनिराज की तपस्या की ओर ध्यान न देकर, उनके पापों के पीछे पड़े रहना, और सोच बैठना कि उन्हें मोक्ष कैसे हुआ होगा, यह सब मिथ्यात्व है।

10. 8 कर्मों से अमुक्त को मुक्त समझना – कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो अपने धर्म– ग्रन्थों में वर्णित हर किसी व्यक्ति को मोक्षगामी या निर्वाण–प्राप्त कह देते हैं। जिन्होंने न तो कषायों पर विजय पाई, न केवल–ज्ञान प्राप्त किया, बार–बार जन्म–मरण करेंगे, चाहे नरकों में पड़े हों, उन्हें भी मुक्त मानने वाले मिलेंगे। यह सब मिथ्यात्व है। इस प्रकार मिथ्यात्व मूल रूप से 10 प्रकार का होता है। एक अन्य दृष्टि से मिथ्यात्व के 25 भेद भी होते हैं। उनमें प्रथम 10 भेद तो यही होते हैं। शेष 15 भेद एक प्रकार से इन्हीं 10 भेदों के ही अवान्तर रूप हैं।

14. चौदहवें बोले : छोटी नव तत्व के 115 भेद

1. जीव के 14,	2. अजीव के 14,	3. पुण्य के 9,
4. पाप के 18,	5. आस्रव के 20,	6. संवर के 20,
7. निर्जरा के 12,	8. बंध के 4,	9. मोक्ष के 4

तत्त्व शब्द यहाँ विज्ञान में परिभाषित तत्त्व (Elements) के लिए नहीं कहा गया है। यदि ऐसा होता तो भौतिकवाद की दृष्टि से परमाणुओं की विशिष्ट संरचना से बने, तथा मेंडलीफ की आवर्त–सारणी में स्थान–प्राप्त 100 से अधिक तत्त्वों को ही तत्त्व कहते। यहाँ पर तत्त्व का अर्थ है –किसी दर्शन (Philosophy) को समझने के लिए कुछ मूल (Basic) बातें, या उस दर्शन की बातों के कुछ निश्चित क्रम (Law and Orders) जिन पर उस दर्शन का महल खड़ा किया गया है।

'न्याय दर्शन' ने कहा है कि तत्व–ज्ञान से कल्याण की प्राप्ति होती है। बस इसी को पकड़ लिया जाये, तो कह सकते हैं कि जिन बातों के ज्ञान से कल्याण सम्भव हो, उन तात्त्विक बातों को तत्त्व कहते हैं। जैन दर्शन भी 9 तत्त्वों पर आधारित है। बात को जीव से शुरू किया गया और मोक्ष तक पहुँचा दिया गया है। इन 9 तत्त्वों को 3 वर्गों में भी बाँटा गया है –

(क) ज्ञेय – मात्र जानने योग्य – 1. जीव, 2. अजीव

(ख) हेय – छोड़ने योग्य – 1. पाप, 2. आस्रव, 3. बंध।

(ग) उपादेय – अपनाने योग्य – 1. पुण्य, 2. संवर, 3. निर्जरा, 4. मोक्ष।

कुछ कहते हैं कि दिगम्बर 7 तत्त्व तथा श्वेताम्बर 9 तत्त्व मानते हैं। इसका निराकरण यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र में 9 तत्त्व हैं। समय–सार में भी 9 तत्त्व हैं। ये दोनों क्रमशः श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरों के मान्य शास्त्र हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में 7 तत्त्व हैं, जो दोनों को मान्य है। तत्त्वार्थ सूत्र, सूत्र–रीति से संक्षेप–वृत्ति की रचना है। पुण्य व पाप को बंध में सम्मिलित किया जा सकता है, या आस्रव को पाप में तथा संवर को पुण्य में गिनकर 7 तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है। पर तत्वों की पूरी दुकान सजानी हो, तो 9 ही सुन्दर लगते हैं। नव तत्त्वों को 9 पदार्थ भी कहते हैं।

इस चौदहवें बोल को 'लघु नव तत्त्व' कहते हैं। प्रत्येक तत्व के सामान्य भेदों के नाम का उल्लेख करते हुए संक्षिप्त विवरण ही इसमें है। विस्तृत विवेचन के लिए 'नव तत्त्व' के नाम से अलग से थोक संग्रह है, जो तत्त्व की व्याख्या की थोक दुकान के समान है। प्रस्तुत बोल में तो,

प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिए, बुद्धि के थोड़े दाम खर्च करके, काम–चलाऊ सौदा खरीदा गया है। ये काम–चलाऊ भी बहुत–से व्यक्तियों का काम चला सकता है। अधिक बड़े जिज्ञासुओं को 'बड़ी नव तत्त्व' की मंडी की ओर इशारा किया जा सकता है। अब विवरण पर आते हैं।

1. जीव के 14 भेद – जहाँ कहीं जीने का लक्षण दिखायी देता है, प्राण–शक्ति है, वह जीव है। जीव को देखा नहीं जा सकता, छूना, काटना भी सम्भव नहीं है, फिर भी इसका अस्तित्व है। यह अमूर्त होते हुए भी प्रदेशों का समूह है। इसके असंख्याता प्रदेश (हिस्से) होते हैं, जो शरीर के अनुसार सिकुड़ और फैल तो जाते हैं, किन्तु संख्या में घटते–बढ़ते नहीं है। मूलतः जीव एक ही प्रकार का है तथा संख्या में अनन्त संख्या है। व्याख्याओं के प्रकार बढ़ाते– बढ़ाते कई तरह से इसके भेद किये जाते हैं। जैसे संख्या में जीव का एक भेद है – चेतना या उपयोग। 2 भेद संसारी एवं सिद्ध या त्रस एवं स्थावर आदि। इसी प्रकार आगे–आगे और भी भेद किये जा सकते हैं। सभी भेद जीव की व्याख्या के लिए उपयोगी होंगे। यहाँ जीव के न्यूनतम एक या अधिकतम 563 भेदों को न लेकर, मध्यम 14 भेदों का वर्णन है। प्रस्तुत 14 भेद दूसरे बोल 'जाति पाँच' तथा पाँचवें बोल 'पर्याप्ति छः' को मिला (Mix) करके बन जाते हैं। 5 जातियों में यहाँ एकेन्द्रिय के दो प्रकार सूक्ष्म तथा बादर, एवं पचेन्द्रिय के भी दो प्रकार संज्ञी (मन वाले) तथा असंज्ञी (बिना मन वाले) कर दिये गये हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के दो–दो तथा बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय के 1–1 कुल 7 भेद हैं। इन 7 के पर्याप्त तथा अपर्याप्त, इस प्रकार चौदह भेद हो जाते हैं।

सूक्ष्म तथा बादर का अर्थ – सूक्ष्म एकेन्द्रियों की शरीर–रचना तथा अवगाहना (लम्बाई–चौड़ाई) इतनी कम होती है, और रूप, रंग इतना अस्पष्ट है कि समूह रूप में भी इन्हें देखना, छूना, प्रत्यक्ष या अनुमान किसी प्रकार से ग्रहण करना सम्भव नहीं। वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि दूसरे बारीक–से–बारीक जीवों के सम्पर्क में भी नहीं आ सकते। केवल शास्त्रों को प्रमाण मानकर ही इनके अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है। सूक्ष्म इतने सूक्ष्म हैं कि तलवार से कटें नहीं, आग से जलें नहीं, पानी में बहें नहीं। हमारी हिंसा का विषय भी नहीं बनते। फिर भी जीव तो जीव हैं। ये सूक्ष्म एकेन्द्रिय सारे लोक में भरे पड़े हैं, यहाँ तक कि सिद्धशिला से ऊपर लोकान्त तक भी। पर क्या मजाल कि उनके साथ दूसरे प्राणि–जगत् का कोई मेल–मिलाप या टकराव हो सके। ये होते हुए भी, नहीं के बराबर हैं। केवल ज्ञानी भगवान् ने उनके अस्तित्व को जाना है और उनके फरमाने से हमने जाना है। इनकी जानकारी ज्ञान–दृष्टि से करनी है,

नवतत्त्व के 115 भेद

जीव के 14 भेद

अजीव के 14 भेद

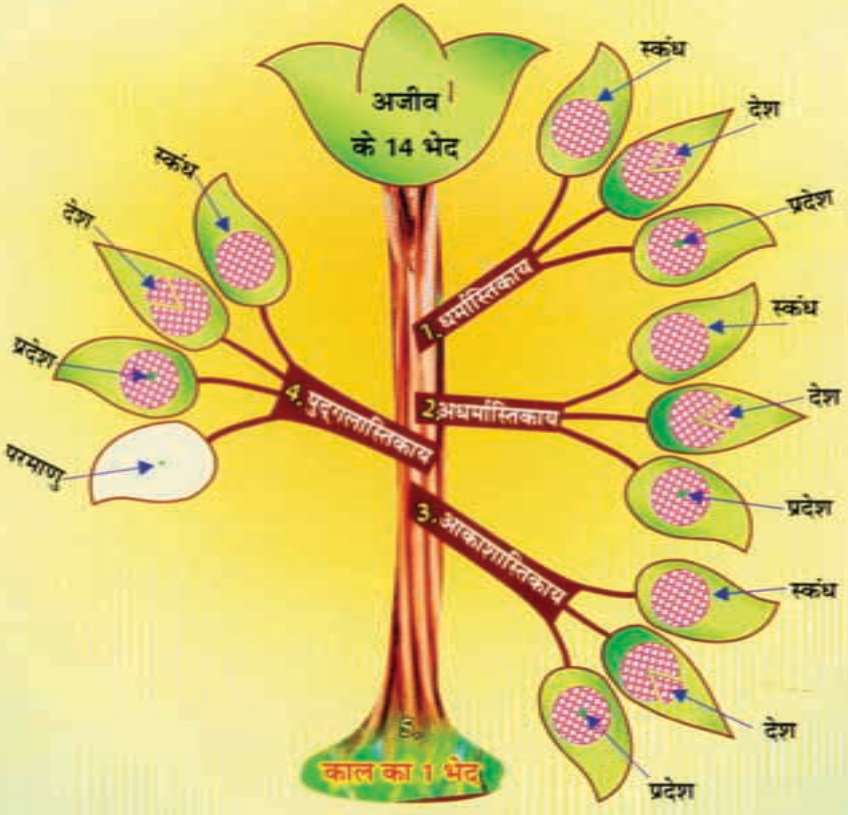

चारित्र–दृष्टि से नहीं।

बादर जीवों को हम देख व जान लेते हैं : जैसे – मिट्टी, पानी, आग, हवा, पेड़–पौधे, काई आदि, पर इनमें इतने छोटे भी हैं कि वे 1, 2, 3 क्या, अनेक–अनेक संख्याओं तक के समूह में भी दृष्टिगोचर नहीं होते। असंख्यात के समूह में इकट्ठे होने के बाद ही दृष्टिगोचर होते हैं। वनस्पतियों के बादर जीव, अकेले भी दृष्टिगोचर हो सकते हैं, जैसे – बीज, वृक्ष आदि। एक स्थूल (बादर) जीव की भी न्यूनतम अवगाहना (शरीर की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई) इतनी छोटी होती है कि वह चक्षुग्राह्य नहीं हो सकती है। फिर धीरे–धीरे जब उस जीव का शरीर विकसित हो जाता है, तो इन्द्रिय–ग्राह्य बन जाता है या फिर अनेक जीवों के शरीर संयुक्त अवस्था में इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकते हैं। इसलिये ऐसे बारीक माने जाने वाले जीव भी बादर ही हैं, सूक्ष्म नहीं। भले ही कभी–कभी उनकी बारीकी का परिचय देने के लिए उन्हें हम 'सूक्ष्म' कह देते हैं, परन्तु वहाँ पर 'सूक्ष्म' का अर्थ छोटे या बारीक से है। शास्त्रीय भाषा में तो सूक्ष्म का वही अर्थ है, जो इससे पहले ऊपर बताया गया है।

पर्याप्त–अपर्याप्त – जिस इन्द्रिय वाले जीव में अधिकतम जितनी पर्याप्ति होनी चाहियें, उतनी पर्याप्ति पूर्ण करने वाला जीव पर्याप्त, तथा उतनी पर्याप्तियों को पूर्ण करने से पूर्व मर जाने वाले जीव को अपर्याप्त कहते हैं।

2. अजीव के 14 भेद – वैसे तो जीव अरूपी होता है तथा अजीव रूपी। इसलिये जीव को जानना कठिन है, परन्तु उसके चेतना लक्षण से तथा शरीर के अन्दर उसके रहने के कारण शारीरिक क्रियाओं से, हम उसका अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं। दूसरी ओर अजीव पदार्थ हमें साक्षात् दिखायी देते रहते हैं, परन्तु यहाँ पर भी एक चक्कर है। कुछ अजीव पदार्थ अरूपी भी होते हैं। उन्हें केवल जैन धर्म में ही स्वीकार किया गया है। अरूपी होने के कारण उनको स्वीकार करना, एक आम व्यक्ति के लिए बहुत ही कठिन है। आइये, शास्त्र–रूपी चक्षुः से उनका अवलोकन करते हैं।

(क) धर्मास्तिकाय – यह एक ऐसा पदार्थ है, जो सारे लोक के कण–कण में व्याप्त है। इसी के कारण गति संभव है। हम चलते–फिरते हैं, वाहन गति करते हैं, जीवात्मा एक स्थान से शरीर छोड़कर दूसरे स्थान पर शरीर ग्रहण करने के लिए गति करती है, पत्थर, गेंद आदि फैंकने पर एक स्थान से दूसरे स्थान तक गति करते हैं, इन सबके लिए एक माध्यम की आवश्यकता है।

जैसे करंट को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए तारों की आवश्यकता है। यों तो मछली अपनी ताकत से चलती है, परन्तु चलने के लिए आवश्यक माध्यम पानी है। बिना पानी के उसकी गति सम्भव नहीं है। विज्ञान में भी एक मान्यता पढ़ने को मिलती है 'ईथर' की। 'ईथर' एक ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है, जिसके कारण गति सम्भव हो पाती है। धर्मास्तिकाय भी इसी तरह ही गति में सहायक है। चूँकि यह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, अतः गति भी लोक में ही सम्भव है। लोक के बाहर जो अलोक है, वहाँ धर्मास्तिकाय के न होने से गति संभव नहीं है। यही कारण है कि सिद्ध आत्माएँ लोक के अग्र भाग पर पहुँचकर विराम लेती हैं तथा सदा–सदा के लिए वहीं विराजमान रहती हैं। जैसे ही कोई आत्मा मुक्त होती है, तब वह सीधी रेखा में ऊपर की ओर, अत्यंत तीव्र गति से गमन करती हुई, अलोक शुरू होने के ठीक पहले रुक जाती है, क्योंकि आत्मा की गति में सहायक बनने वाला तत्व धर्मास्तिकाय वहीं तक है। जैसे जहाँ तक पटरी बिछी हो, रेलगाड़ी वहीं तक जा सकती है। इस धर्मास्तिकाय के भी 3 भेद हैं – स्कन्ध, देश, प्रदेश।

सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्कन्ध कहते हैं। उसी के कल्पित टुकड़ों को देश तथा सूक्ष्मतम भाग को प्रदेश कहते हैं, जैसे – पदार्थ, अणु, परमाणु। सूक्ष्मतम भाग परमाणु से स्थूल भाग अणु, तथा उस अणु से किसी पदार्थ की रचना होती है। इसी प्रकार स्कन्ध, देश और प्रदेश को समझना।

(ख) अधर्मास्तिकाय – जैसे धर्मास्तिकाय गति में सहायक है, उसके ठीक विपरीत अधर्मास्तिकाय वस्तुओं के ठहराव में सहायक है। जैसे – पत्थर एक जगह पड़ा है, मेज फर्श पर रखी है, गाड़ी एक स्थान पर खड़ी है। हम चलने के लिए बल लगाते हैं, तो चल पड़ते हैं, अन्यथा एक स्थान पर खड़े या बैठे रहते हैं। यह जो ठहराव है, एक स्थान पर स्थिरता है, इसके पीछे भी एक तत्व कार्य करता है, जिसका नाम अधर्मास्तिकाय है। जैसे विज्ञान ने दो वस्तुओं के बीच में घर्षण–बल को माना है। विज्ञान कहता है कि एक गेंद को फर्श पर लुढ़काओ, तो कुछ समय बाद वह ठहर जाती है, क्योंकि फर्श और गेंद के बीच का घर्षण–बल उसकी गति को कम करते–करते रोक देता है। मेज पर किताब रखी है, तो रखी ही रहेगी। बिना बाहरी बल के वह अपने आप गति नहीं करेगी। उसका कारण भी मेज और किताब के बीच का घर्षण–बल है। ठीक वही स्थिति इस अधर्मास्तिकाय की है। यह अधर्मास्तिकाय भी जीव–अजीव को रुकने का माध्यम

प्राप्त कराता है तथा पूरे लोक में व्याप्त है। धर्मास्तिकाय की तरह इसके भी 3 भेद – स्कन्ध, देश, प्रदेश, ठीक उसी प्रकार समझना।

(ग) आकाशास्तिकाय – 'स्थान' के लिए अंग्रेजी में Space शब्द आता है। किसी कमरे में फर्नीचर सजाने के लिए हम देखते हैं कि कमरे में 'स्पेस' कितना है। दो कुर्सियों को सटाकर रखना हो, तो कहते हैं कि बीच में स्पेस मत छोड़ना। यह स्पेस क्या है ? जैन धर्म ने इस स्पेस को, स्थान को, जगह को ही आकाशास्तिकाय कहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु 'स्पेस' में ही विद्यमान है। कहीं कोई चीज रख देने से, व्यावहारिक रूप से हम कह सकते हैं कि स्पेस नहीं बचा, परन्तु क्या स्पेस कहीं चला गया ? एक खाली कोठे को देखो–स्पेस ही स्पेस है। उसमें ठूँस–ठूँसकर अनाज के दाने इस तरह भर दो कि एक दाना भी और रखने की जगह न रहे। हम कहेंगे कि अब और स्पेस नहीं बचा। सारे दाने बाहर निकाल दो, फिर स्पेस ही स्पेस। अब प्रश्न यह है कि पहले यह स्पेस कहाँ चला गया था और अब कहाँ से आ गया ? इसका समाधान है कि न तो स्पेस कहीं गया और न ही आया। स्पेस तो वहीं मौजूद था। केवल उसको अधिगृहीत कर लिया गया था, फिर खाली कर दिया गया। हमें इस संसार में जो कुछ भी दिखायी दे रहा है – भवन, दुकान, बाजार, आदमियों के झुण्ड, वाहन, साजो–सामान, वह सब इस स्पेस या आकाशस्तिकाय में ही समाया हुआ है। और यही क्या, सारा ब्रह्माण्ड आकाशस्तिकाय में ही समाया हुआ है। इसका विस्तार सम्पूर्ण लोक और लोक से बाहर सम्पूर्ण अलोक में है। एक गिलास को दूध से लबालब भर दीजिए। इतना कि एक बूँद भी डालें, तो गिलास से बाहर गिर जाये। अब उसमें एक चम्मच चीनी डालिये। वह दूध में समा जायेगी। कहाँ गयी? वह आकाशास्तिकाय में समा गयी। अतः आकाशास्तिकाय का गुण है – स्थान देना। इसके भी स्कन्ध, देश, प्रदेश ये 3 भाग हैं।

(घ) काल – समय, टाइम, पीरियड आदि को ही काल कहते हैं। यह मकान बीस साल पुराना हो गया, यह आदमी बूढ़ा हो गया, इन सब मामलों में किस कारण से ऐसा कहा जाता है? वह कारण है–काल। 'हो जाना', 'बीत जाना', इसी का नाम काल है। काल कोई पदार्थ अथवा वस्तु नहीं है, अतः इसके टुकड़े आदि की कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिये इसको अस्तिकाय नहीं माना गया है, तथा न ही इसका कोई भेद भी है। काल की इकाई वर्तमान समय में घंटे, मिनट, सैकिण्ड आदि है। विज्ञान 1 सैकिण्ड के कई लाखवें भाग की भी गणना करने में सक्षम है,

परन्तु जैन शास्त्रों के अनुसार यह तो बहुत–बहुत मोटी इकाई है। काल की सबसे सूक्ष्म इकाई है 'समय'। एक सैकिण्ड में असंख्याता समय होते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त 3 + 3 + 3 + 1 : 10 भेद अरूपी अजीव के हैं। अब नम्बर आता है रूपी पुद्गल का, जिसके 4 भेद होते हैं।

(ङ) पुद्गलास्तिकाय – विज्ञान, जिसे द्रव्य या पदार्थ (Matter) कहता है, उसे जैन दर्शन में 'पुद्गल' कहा गया है। समस्त संसार में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, वह पुद्गल है, पदार्थ है। कोई भी वस्तु या पदार्थ, पुद्गल–परमाणुओं की मिलने–बिछुड़ने की संरचना ही है – रंग, स्वाद, गंध, स्पर्श आदि ये सब पुद्गल के गुण हैं। इसके चार भेद होते हैं। स्कन्ध, देश, प्रदेश तथा परमाणु। स्कन्ध तथा देश को तो पहले के समान ही समझना। जब तक परमाणु स्कन्ध या देश से जुड़ा है तो प्रदेश, अलग है तो परमाणु। पुद्गल का प्रदेश ही पुद्गल से अलग हो सकता है, अतः इसका एक भेद परमाणु भी कर दिया गया है, परन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के देश और प्रदेश इनसे अलग नहीं हो सकते, अतः उनके परमाणु नाम का भेद नहीं बताया गया है।

3. पुण्य के 9 भेद – अनुकम्पा–वश किये जाने वाले शुभ कार्यों तथा उनसे बंधने वाले शुभ कर्मों को पुण्य कहते हैं। शुभ कार्यों को करते समय, करने वाले को एक विशेष आत्म–सन्तुष्टि –रूप सुख मिलता है, तथा शुभ कर्मों के उदय से कालान्तर तथा जन्मान्तर में सुख तथा सुख के साधन, जैसे उत्तम शरीर, इन्द्रिय आदि मिलते हैं, अतः पुण्य को सुख का कारण कहा जा सकता है। पुण्य उपार्जन करने में पहले तो कष्ट सहन करना पड़ता है, किन्तु फिर दीर्घकाल के लिए सुख की प्राप्ति होती है। शास्त्रों में पुण्य 9 प्रकार का बताया गया है, अर्थात् इन 9

कार्यों को करने से पुण्य का उपार्जन होता है –

1. अन्न पुण्य – अन्न का दान करना, भोजन, दवाई आदि देना।

2. पान पुण्य – पानी का दान करना, प्याऊ आदि लगाना।

3. लयण पुण्य – निराश्रित को जगह देना, धर्मशाला, आरामगाह आदि बनवाना।

4. शयन पुण्य – मौसम के अनुसार बिस्तरे, अस्पतालों में चारपाई आदि देना।

5. वस्त्र पुण्य – नये अथवा पुराने वस्त्र देना।

6. मन पुण्य – मन में शुभ भावना रखना, दूसरों के भले की सोचना।

7. वचन पुण्य – मीठी वाणी बोलना, नेक सलाह देना, दूसरों का उत्साह–वर्धन करना।

8. काया पुण्य – सेवा–शुश्रूषा करना। रक्तदान, नेत्रदान, अंग–दान आदि।

9. नमस्कार पुण्य – बड़ों तथा गुणवानों का सम्मान करना। जिन वर्गों को तुच्छ या अछूत समझा जाता है, उन्हें भी मानवोचित आदर–मान देना।

ये 9 प्रकार तो उदाहरण मात्र हैं। इसी प्रकार के अन्य दान या शुभ कार्य भी पुण्य की श्रेणी में ही आते हैं। यद्यपि उन दूसरे कार्यों को भी, किसी–न–किसी प्रकार इन्हीं 9 में सम्मिलित किया जा सकता है।

4. पाप के 18 भेद – अशुभ कार्यों तथा, उनसे बँधने वाले अशुभ कर्मों को पाप कहते हैं। इनका फल कटु होता हैं। इसके ये 18 भेद बताये गये हैं –

1–5 हिंसा आदि 5 मुख्य पाप –

1. हिंसा, 2. झूठ, 3. चोरी, 4. काम–भोग का सेवन, 5. परिग्रह–संग्रह करने की प्रवृत्ति अर्थात् ज्यादा–से–ज्यादा धन, साधन एकत्र करने की ललक तथा उसके लिए भागदौड़।

6 – 9 चार कषाय –

6. क्रोध – गुस्सा करना,

7. मान – घमंड, अंहकार करना,

8. माया – छल–कपट करना,

9. लोभ – लालच करना।

10. राग – किसी के प्रति ज्यादा मोह करना। मोहवश हमें सही और गलत का विवेक नहीं रहता तथा गलत कार्यों में प्रवृत्ति होती है।

11. द्वेष – किसी के प्रति मन में वैर रखना। वैर के कारण मन में अशुभ भाव रहते हैं तथा दूसरों का बुरा करने के लिए लोग अन्य पापों का सहारा लेते हैं।

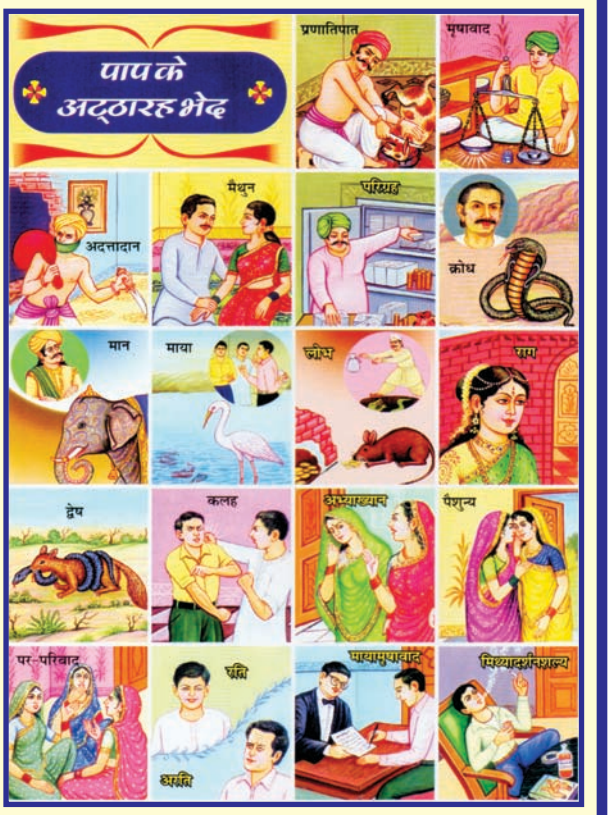

12. कलह – लड़ाई–झगड़ा, क्लेश करना।

13. अभ्याख्यान – निरपराध पर दोषारोपण, जैसे कि – तूने यह अपराध किया है।

14. पैशुन्य – पीठ पीछे झूठा आरोप प्रचारित करना, चुगली करना।

15. पर–परिवाद – निन्दा करना। किसी के नकारात्मक पक्ष को ही प्रकट करना।

16. रति–अरति – मन के अनुकूल विषयों एवं पदार्थों के प्रति आकर्षण तथा प्रतिकूल विषयों एवं पदार्थों के प्रति द्वेष अथवा घृणा रखना।

17. माया–मृषावाद – यद्यपि माया और मृषावाद (झूठ) दोनों का अलग–अलग वर्णन हो चुका है, लेकिन दोनों का मिश्रण अलग से भयंकर पाप गिना गया है। जब कपटपूर्ण झूठ बोला जाता है, तो इस श्रेणी में आता है। जैसे अपना काम निकालने के लिए या दूसरों को फँसाने के लिए षड्यंत्र की रचना करना।

18. मिथ्यादर्शन–शल्य – यह 18 पापों में सबसे बड़ा पाप है। मिथ्यादर्शन का अर्थ है कुदेव, कुगुरु, कुधर्म पर श्रद्धा होना अर्थात् आत्मकल्याण के सही साधनों को सही न मानकर, गलत साधनों को सही मानना। 'शल्य' शब्द का अर्थ काँटा होता है। जैसे – जब तक काँटा लगा हुआ है, दुःख देता रहेगा। उसी प्रकार मिथ्यादर्शन या मिथ्यात्व, आत्मा में लगे हुए काँटे के समान हैं, जो जन्म– जन्मांतरों तक आत्मा को दुःखी बनाता है।

5. आस्रव के 20 भेद – पाप और आस्रव में काफी समानता है। पाप–कर्मों का आत्मा में आना आस्रव है। पापों के आने के रास्ते का नाम आस्रव है। जैसे Infection (इन्फैक्शन) अर्थात् संक्रमण तथा उससे होने वाले रोग का उदाहरण ले सकते हैं। दोनों एक से ही दिखायी देते हैं। परन्तु

यदि इन्फैक्शन को रोकने का प्रबन्ध कर लिया जाये, तो रोग से भी बचाव हो जाता है। इसी प्रकार उदाहरण दिया है कि आत्मा–रूपी तालाब में, आस्रवरूपी नाले के माध्यम से, कर्म–रूपी पानी आता है। ये 20 प्रकार के बताये गये हैं–

1. मिथ्यात्व – धर्म, कर्म, आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, गुरु और शास्त्रों की सत्यता को स्वीकार न करने वाला नास्तिक सर्वाधिक कर्मों का बन्ध करता है। आस्तिकता बड़े–बड़े पापों को रोक देती है। नास्तिक आदमी के वो पाप रुक नहीं पाते। जब व्यक्ति की समझ ऐसी होगी कि स्वर्ग–नरक कुछ है ही नहीं, तो वह पापों से दूर कैसे होगा तथा धर्म–कार्य में क्यों लगेगा? इस कारण वह पापों का अधिकाधिक उपार्जन करेगा।

2. अविरति – पाप को पाप समझना और उसे छोड़ना विरति तथा न छोड़ना अविरति है। त्याग, पच्चक्खाण, व्रत, नियमों के न अपनाने से जीवात्मा पाप कर्मों से दूर नहीं हट सकती। जैसे कोई व्यक्ति शराब को बुरा तो समझता है, परन्तु उसे शराब पीने की छोड़ (त्याग) नहीं है, तो संभावना है कि वह दोस्तों के आग्रह के कारण, मन की शिथिलता के कारण, अथवा अन्य कारणों से, कभी भी उसका सेवन कर सकता है। जबकि नियम ले लेने वाला व्यक्ति, यदि दृढ़ है, तो कभी भी उसका सेवन नहीं करेगा। नियम ले लेने से उस कुमार्ग पर चलने का रास्ता ही बन्द हो जाता है। वैसे भी जिस कार्य को करने का त्याग नहीं है, तो उस कार्य से होने वाले न्यूनतम पाप का उपार्जन, प्रतिक्षण इस आत्मा में होता रहता है, ऐसा शास्त्रों का कहना है। जैसे–खाली पड़े मकान में, बिना प्रयोग किये भी, हमें टैलीफोन या बिजली के मीटर का

कम–से–कम किराया (Minimum rent) तो देना ही पड़ता है, जब तक हम बाकायदा इनका कनैक्शन कटवा नहीं देते।

3. प्रमाद – त्याग, पच्चक्खाण होने पर भी उनके दृढ़तापूर्वक पालन में असावधानी रखने से, कर्म आने का रास्ता खुला रहता है। जैसे–रोग के उपचार में दवाई लेने में ढिलाई करने, या परहेज रखने में चूक करने से, रोग के पुनः आक्रमण की सम्भावना रहती है। इस प्रकार अपने लक्ष्य का विस्मरण होना ही प्रमाद है।

4. कषाय – क्रोध, मान, माया और लोभ, मन के इन चार विकारों के द्वारा भी कर्मों का आगमन आत्मा में होता रहता है। कषाय बना है 'कष्'+'आय' से। कष् का अर्थ होता है संसार। अर्थात् जिससे संसार की आय (प्राप्ति) हो, या संसार में भव–भ्रमण करना पड़े, वह कषाय है।

5. योग – मन, वचन, काया की हलचल ही योग है। किसी भी कर्म के आगमन का यह सबसे बड़ा स्रोत है।

6–10. प्राणातिपात, मृषावाद अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह – इनकी परिभाषा पहले भी दी जा चुकी है। ये पाँचों पाप भी हैं तथा पाप के कारण भी। इसलिए इनकी पाप के साथ–2 आस्रव में भी गणना की गई है।

11–15. श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय, इन पाँचों इन्द्रियों को वश में न रखकर, खुद इनके वशीभूत हो जाना भी पाप का बहुत बड़ा कारण है। हम अधिकतर पाप–कार्य अपनी इन्द्रियों के पोषण के लिए ही करते हैं। इसलिए ये पाँच आस्रव हैं।

16–18. इसी प्रकार मन, वचन तथा काया के वशीभूत होकर कार्य करने से भी कर्मों का बन्ध होता है। पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन, वचन, काया को वश में न रखना, उसी प्रकार नुकसानदेह है, जैसे पशुओ को घर में खुला छोड़ देना। खुले होने से वे मनमाना नुकसान तो करेंगे ही। बँधे रहेंगे, तो घर सुरक्षित रहेगा। पतंगा इन्द्रिय के वशीभूत हो जलकर मर जाता है। हिरण बाण से मारा जाता है। पक्षी दाने के लालच में जाल में फँस जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा पाप कर्मों का उपार्जन करती है।

19–20. अपने इस्तेमाल में आने वाले 'छोटे' अथवा 'बड़े' उपकरणों, वस्तुओं आदि को लेते या रखते समय जब असावधानी होती है, अविवेक होता है, तो उसमें जीव–हिंसा आदि की संभावना के कारण पाप बधं (आस्रव) होता है।

6. संवर 20 के भेद – आस्रव के एकदम विपरीत संवर है। संवर आस्रव का इलाज है। पहले बताया था कि कर्म–रूपी पानी, आत्मा–रूपी तालाब में, आस्रव–रूपी नाले से आता है। संवर उस नाले को बन्द करता है। अर्थात् आत्मा में पापों के आगमन को रोकना संवर है। जैसे द्वार को बन्द कर दें, ताला लगा दें, पहरेदार लगा दें, तो चोरी का खतरा टल जाता है। खिड़कियाँ बन्द कर दें, तो धूल–कचरे का आगमन रुक जाता है। इसी प्रकार 20 प्रकार के आस्रवों को रोकने के लिए 20 प्रकार के संवर हैं। ये दोनों एक–दूसरे के विपरीत हैं। जिस क्रिया को करना आस्रव है, उस क्रिया को न करना संवर है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है –

1–5. सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग या शुभयोग ये पाँच मूल संवर हैं। बाकी भेद इन्हीं के विस्तार हैं।

6–10. अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।

11–15. पाँचों इन्द्रियों को काबू में रखना।

16–18. मन, वचन, काया को काबू में रखना।

19–20. उपयोग के छोटे–बड़े उपकरण लेने, रखने में सावधानी तथा विवेक रखना।

7. निर्जरा के 12 भेद – निर्जरा का अर्थ है–जीर्ण–शीर्ण होना। उत्तराध्ययन सूत्र में निर्जरा के लिए एक शब्द आया है 'व्यवदान' अर्थात् बोदा करना। आत्मा से लगे हुए कर्मों को बोदा करना, उनको हल्का करना, खत्म कर देना या खपा देना अर्थात् आत्मा से अलग कर देना निर्जरा है। खुली खिड़कियों से घर में धूल–गन्दगी आती रहती है। उससे बचने के लिए पहले हम खिड़की बन्द करेंगे, जो कि संवर रूप है। इससे नयी धूल का आना रुक गया। परन्तु पहले से आ गयी धूल को यों ही पड़ा रहने दें, तो भी घर गन्दा ही रहेगा। अब जरूरत है निर्जरा की अर्थात् उस आई हुई धूल–गन्दगी को घर से बाहर फैंकने की। और एक उदाहरण लीजिये–नाव में छेद होने से पानी आने लगा, और डूबने का खतरा बन गया। तब सबसे पहले हम छिद्र बन्द करेंगे (संवर)। फिर भरे हुए पानी को फटाफट उलीच कर बाहर फैंक देंगे (निर्जरा), तभी हम मंजिल (मोक्ष) पर नहीं पहुँचेंगे, तो बीच पानी (संसार) में ही डूब जायेंगे।

अब निर्जरा के 12 भेदों के नाम और संक्षिप्त विवरण पर आते हैं। निर्जरा या तप एक ही बात है। इसके 12 प्रकार बताये गये हैं। इनमें 6 बाह्य तथा 6 आभ्यन्तर हैं। वैसे तो 12 ही प्रकार की निर्जराओं में शरीर तथा मन दोनों को कष्ट देना पड़ता है तथा दोनों का ही सहयोग

संवर के बीस भेद
सम्यक्त्व
व्रत
अप्रमाद
अकषाय
अयोग
इन पाँच बातों का पालन करने से
अशुभ
सत्य
अस्तेय
ब्रह्मचर्य
अपरिग्रह
आठ को वश में करने से
श्रोत्र
चक्षु
घ्राण
रसना
स्पर्श
मन
वचन
काय
मन को वश में करने से
वचन को वश में करने से

निर्जरा के बारह भेद
अनशन तप
ऊनोदरी तप
(भूख से कम भोजन)
भिक्षाचरी तप
(वृत्ति भिक्षा)
रस परित्याग तप
(रूखा भोजन सूखे चने)
काय-क्लेश तप
प्रतिसंलीनता तप
(कछुवे की तरह इन्द्रियों का संकुचन)
प्रायश्चित्त तप
विनय तप
वैयावृत्य तप
स्वाध्याय तप
ध्यान तप
व्युत्सर्ग तप

आवश्यक है, परन्तु प्रथम 6 प्रकार की निर्जराओं में शरीर के कष्ट का तथा बाद के 6 प्रकारों में मन के कष्ट एवं उसकी एकाग्रता का विशेष स्थान होता है। इसीलिए उन्हें दो मुख्य भागों–बाह्य तथा आभ्यन्तर (आन्तरिक) में बाँटा गया है।

बाह्य निर्जरा या बाह्य तप

1. अनशन – कुछ समय, एक दिन या अनेक दिनों के लिए भोजन, अथवा भोजन एवं पानी दोनों के त्याग को अनशन कहते हैं। अनशन को आम बोलचाल में व्रत या उपवास भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसे Fast कहते हैं। परन्तु आधुनिक फास्ट, जिसमें मात्र एक समय के भोजन का त्याग होता है तथा उसकी एवज में सारे दिन चाय, नाश्ता, फल आदि खाते रहते हैं, अनशन की श्रेणी में नहीं आता। उसको हम तप के दूसरे भेद ऊनोदरी में गिन सकते हैं।

इसी प्रकार रुष्ट होकर खाना छोड़ना, राजनीतिक कारणों से, सत्कार, मान या संसारी देवताओं को खुश करने के लिए छोड़ा गया भोजन–पानी भी सच्चे अर्थों में अनशन तप में नहीं आता।

जो अनशन इस इच्छा के साथ किया जाये, कि इतने समय या दिनों बाद मुझे खाना–पीना शुरू करना है, उसे 'इत्वरिक अनशन' कहते हैं और जो अनशन जीवन–पर्यन्त के लिए कर लिया जाये, उसको 'यावत्कथिक' या 'संथारा' कहते हैं।

2. ऊनोदरी – 'ऊन' मायने कम तथा 'उदर' माने पेट। इस प्रकार इच्छापूर्वक भूख से कम खाना ऊनोदरी तप है। खाने के द्रव्यों की, रोटी आदि की एक मर्यादा रख लेना भी ऊनोदरी तप है।

3. भिक्षाचरी – साधु अपने शरीर का निर्वाह करने के लिए आहार–पानी के 42 दोषों से बचता हुआ भिक्षा लाता है। यद्यपि भिक्षा भोजन, वस्त्र–पात्र एवं अन्य उपकरणों के लिए है, तो प्रश्न उठ सकता है कि भिक्षाचरी से तो साधु भी अपने खाने या अन्य जरूरतों को पूरा करने के लिए प्रबन्ध करता ही है, तो फिर इसमें तप कहाँ से हो गया? जैसे हम खाते हैं, वैसे ही वो भी खा रहा है। इसका समाधान है कि स्वाद एवं चटपटे भोजन की कामना किये बिना, शान्त भाव से, कठोर नियमों में बंधा हुआ साधु, 6 काय के जीवों की रक्षा करता हुआ, मात्र पेट के गढ़े को भरने के लिए, भोजन आदि की याचना करता है। इसके पीछे उद्देश्य अपनी 'संयम–यात्रा' को सुचारू रूप से चलाये रखना है। अतः अपनी इन्द्रियों, मन–वचन–काया आदि का दमन करने

के कारण, भिक्षाचरी भी तप है। इसमें और अधिक कठोर अभिग्रह (मर्यादाएँ) धारण कर इसको और भी अधिक प्रचण्ड तप का रूप दिया जा सकता है, जिससे पुराने–चिकने कर्म बड़ी आसानी से, और बहुत बड़े समूह में क्षय हो जाते हैं।

4. रस–परित्याग – अपनी जीभ के स्वाद पर काबू पाने के लिए मीठा, नमकीन, खट्टा, चटपटा आदि रसों का त्याग करना। रूखा–सूखा जैसा हो, खा लेना रस–परित्याग है।

5. काय–क्लेश – क्लेश का अर्थ यहाँ पर कलह या झगड़ा नहीं है, अपितु स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहने को कायक्लेश कहते हैं। विविध आसन करना भी कायक्लेश है। केशों का लोच करना, सर्दी–गर्मी को समभावपूर्वक सहन करना, मच्छर आदि के डंक मारने पर समता रखना आदि संयमपूर्वक की गयी क्रियाएँ कायक्लेश हैं।

6. प्रतिसंलीनता – 5 इन्द्रियों, मन, वचन, काया तथा कषायों की प्रवृत्तियों पर काबू करना, एकान्त में बैठना, मौन रखना, जन–सम्पर्क से बचना, दुनियादारी की बातों से बचकर अपनी आत्मा में ही रमण करना आदि क्रियाएँ प्रतिसंलीनता हैं। दूसरे शब्दों में, भोग–विषयों तथा संसार एवं संसार–जनों के प्रति उदासीनता ही प्रतिसंलीनता है।

आभ्यन्तर निर्जरा या आभ्यन्तर तप

7. प्रायश्चित्त – अपने छोटे–बड़े अपराधों को देखना, उन्हें स्वीकार करना तथा उचित दण्ड अंगीकार करना प्रायश्चित्त तप है।

8. विनय – अहंकार कम करना, शिष्टता तथा सभ्यता बनाये रखना, मन–वचन–काया में कठोरता छोड़कर नम्रता लाना ही विनय है। इससे कषाय क्षीण होते हैं, मन सरल बनता है, ज्ञान–दर्शन–चारित्र की सुलभता बढ़ती है, और अधिकाधिक कर्म क्षय होते हैं।

9. वैयावृत्य (सेवा) – अपनी सुख–सुविधाओं को भूलकर गुरु, वृद्ध, रोगी या अन्य की शारीरिक सेवा करना, उनको आराम प्रदान करना वैयावृत्य है, देखा जाये तो यह बाह्य तप प्रतीत होता है, परन्तु वैयावृत्य करते हुए, मन में सुखों की चाह छोड़ने के कारण इसको आभ्यन्तर तप में गिना गया है।

10. स्वाध्याय – इधर–उधर की बातों से बचकर ज्ञानाभ्यास करना, शास्त्रों का, अच्छे साहित्य का पठन करना स्वाध्याय है। शास्त्र आदि पढ़ना, पढ़ाना, याद करना, प्रश्न पूछकर शंकाओं का

समाधान करना, प्रवचन सुनना, सुनाना तथा धर्म–चर्चा करना स्वाध्याय के ही विभिन्न रूप हैं।

11. ध्यान – आध्यात्मिक विषयों के चिन्तन की गहराई में जाकर मन की एकाग्रता पाना तथा उसके द्वारा मन के विकारों को दूर करना ध्यान है। धर्म का चिन्तन करना धर्म ध्यान, तथा उसमें उत्कृष्ट रस आ जाये, तो शुक्ल ध्यान होता है। शुक्ल ध्यान में आत्मा तथा मन के भावों में इतनी निर्मलता आ जाती है, कि शुक्ल ध्यान में लीन आत्मा को अन्तर्मुहूर्त (48 मिनट के अन्दर–अन्दर) में केवल ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

12. व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग – शरीर की ममता छोड़कर, मन से इसका त्याग कर, धर्म–चिन्तन में लीन हो जाना कायोत्सर्ग है। प्रतिमा की भाँति शरीर को निश्चल छोड़ देना, यह मान लेना कि यह शरीर मेरा नहीं है, फिर किसी धार्मिक विषय का चिन्तन करना कायोत्सर्ग है।

8. बंध के 4 भेद – पहले भी बताया गया था कि मन–वचन–काया की हलचल को योग कहते हैं। जब इनमें कोई भी हलचल होती है, तथा आत्मा में कषाय होती है, तब आत्मा के आसपास विद्यमान कर्मों के परमाणु आत्मा से चिपक जाते हैं। इस चिपकने को ही बंध कहते हैं। अतः आत्मा से कर्म का सम्बन्ध होने का नाम बंध है। जैसे एक लड़का तथा लड़की अलग–अलग परिवारों में जन्मे। उनका विवाह–बंधन दोनों को पति–पत्नी के मजबूत रिश्ते में बांध देता है। उन दोनों के एक करने का नाम विवाह है। ऐसे ही बंध का अर्थ आत्मा और कर्मों का विवाह है। बंध के चार प्रकार हैं – प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश।

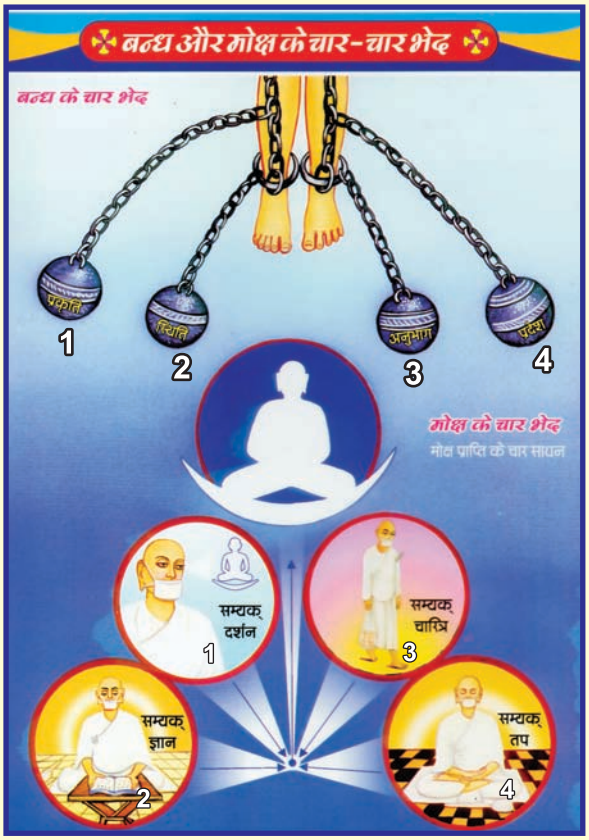

1. प्रकृति – कर्म 8 होते हैं। हर एक की प्रकृति (स्वभाव) एवं उसका फल अलग–अलग किस्म का होता है, जो 10 वें बोल में समझाया जा चुका है। अतः प्रकृति बंध का अर्थ बांधे जाने वाले कर्म के स्वभाव से होता है।

2. स्थिति – कर्म आत्मा के साथ लगे–लगे कुछ समय बाद, अपने आप भी झड़ जाते हैं। या यूँ कह लीजिये कि लम्बे समय तक रखी रहने वाली दवाई की तरह (Expire) एक्सपायर अर्थात् निष्प्रभावी हो जाते हैं। कर्मों की इस (Expiry date) एक्सपायरी डेट या फल देने की मियाद को ही स्थिति कहते हैं। जैसे मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोड़ाकोड़ी सागरोपम (असंख्यात वर्ष) है।

3. अनुभाग – कर्म की फल देने की तीव्र या मन्द शक्ति को अनुभाग कहते हैं। कर्म बंध होते समय भावों में जैसी तीव्रता या मन्दता होती है, उसी के अनुरूप तीव्र या मन्द अनुभाग का बन्ध होता है। जैसे Low या High Potency की दवाइयाँ होती हैं, उनका असर तीव्र या मन्द होता है, उसी प्रकार कर्मों का अनुभाग होता है। उदाहरण के लिए – चलते समय अचानक पैर के नीचे आकर एक चींटी मर गयी। हमारे पाप कर्म का बन्ध हुआ। मन में कोई कलुषित भाव नहीं थे, अतः हल्के कर्म का बंध हुआ। अगर उसी चींटी को जान–बूझकर, मन में क्रूर भाव लाकर मारा जाये, तो गाढ़े कर्म का बन्ध होगा। कर्म के फल भी उसी अनुरूप हल्के या तीव्र दुःख देते हैं। इस तीव्रता, मन्दता को ही अनुभाग कहते हैं।

4. प्रदेश – कर्म–पुद्गल कितनी मात्रा में आत्मा के साथ चिपके, इस मात्रा (Quantity) को ही प्रदेश बंध कहते हैं।

उपरोक्त में प्रकृति और प्रदेश बंध का आधार योग (मन, वचन, काया की हलचल) तथा स्थिति एवं अनुभाग बंध का आधार कषाय होता है।

9. मोक्ष के 4 भेद – सभी 8 कर्मों से आत्मा का छुटकारा ही मोक्ष है। कर्म समाप्त होते ही जन्म, मरण, शरीर आदि से भी छुटकारा हो जाता है तथा आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर, इस लोक के अग्र भाग पर स्थित सिद्ध–शिला पर जाकर, सदा–सदा के लिए विराजमान हो जाती है। जिस शरीर से मोक्ष प्राप्त किया गया है, उस अन्तिम शरीर की कुल लम्बाई–चौड़ाई के 2/3 भाग के बराबर ही, आत्मा के प्रदेशों की लम्बाई–चौड़ाई (अवगाहना) रह जाती है तथा आत्मा के प्रदेश, लगभग एक गुब्बारे की तरह या शिवलिंग जैसे आकार में सिद्ध शिला पर रहते हैं। मोक्ष पाने के चार तरीके हैं – सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप।

15. पन्द्रहवें बोले : आत्मा आठ

1. द्रव्य आत्मा, 2. कषाय आत्मा, 3. योग आत्मा, 4. उपयोग आत्मा, 5. ज्ञान आत्मा, 6. दर्शन आत्मा, 7. चारित्र आत्मा, 8. वीर्य आत्मा।

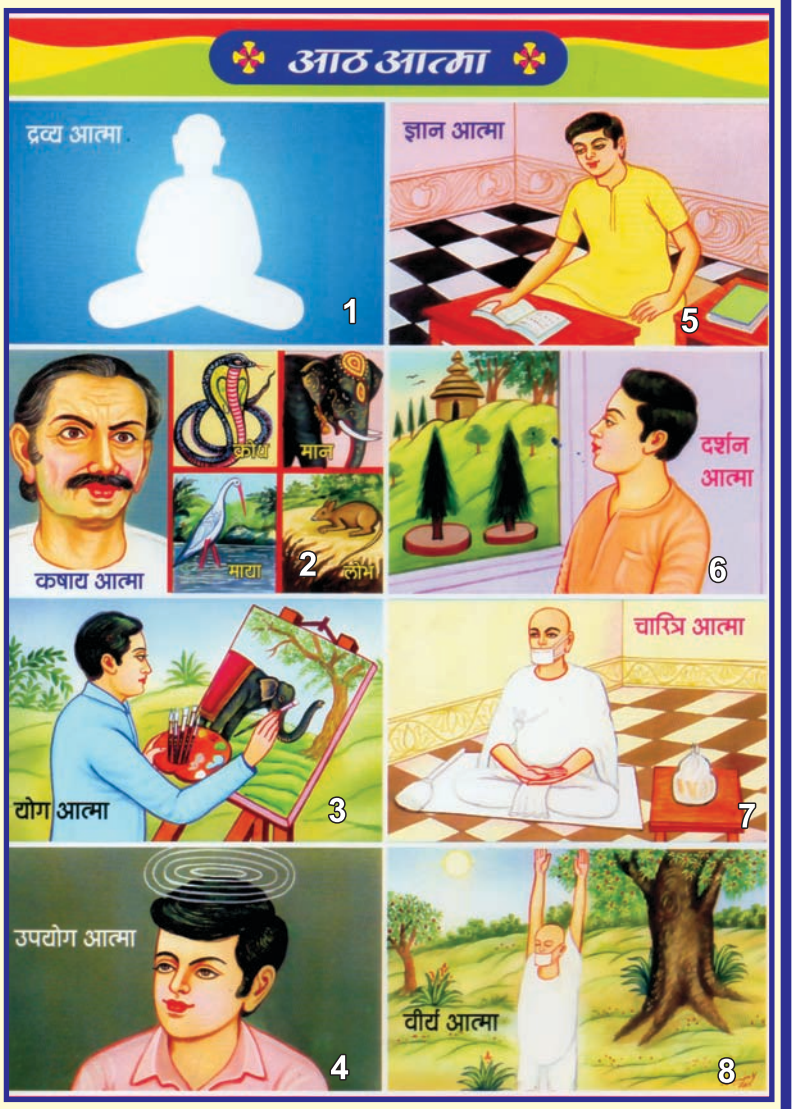

आत्मा दिखायी नहीं देती, छुई नहीं जाती, फिर भी आत्मा को समझना जरूरी है। उसके चेतन–लक्षण से हम उसको जानते हैं। एक ही आत्मा की व्याख्या करने के लिए उसे 8 प्रकार से कहा गया है। आत्मा एक द्रव्य है। उसे उसके स्वाभाविक गुणों या वैभाविक दोषों के आधार पर अन्य 8 प्रकार से और कहा जा सकता है।

1. द्रव्य आत्मा – असंख्य चेतनावान् प्रदेशों का समूह, जो कभी टूटता नहीं, जिसके आत्मप्रदेशों की संख्या कभी घटती–बढ़ती नहीं, वह द्रव्य आत्मा है। जीव का ही दूसरा नाम आत्मा है। हाथी की आत्मा और चींटी की आत्मा, आत्म–प्रदेशों की दृष्टि से समान है। आत्मा सिमटे, तो एक अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी हो सकती है, और फैले, तो पूरे लोक में फैल सकती है। ऐसी हमारी आत्मा को ही द्रव्य आत्मा कहा गया है। जैसे सभी प्रकार के जल मूलतः एक ही हैं, तो भी उनकी

विभिन्न स्थितियों के अनुसार उन्हें हम स्वच्छ जल, मैला जल, स्थिर जल, तरंगित जल, खारा जल, मीठा जल आदि नामों से पुकारते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी मूल रूप में तो एक ही है, पर विभिन्न दृष्टिकोणों से बनने वाले उसके अनेक रूपों की चर्चा, हम आगे कर रहे हैं।

2. कषाय आत्मा – कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) से युक्त आत्मा को कषाय आत्मा कहते हैं। संसार में रहते हुए प्रत्येक जीव को कषाय तरतम भाव से लगे ही रहते हें, अतः प्रत्येक संसारी आत्मा कषाय आत्मा है। यह मलिन जल की उपमा के समान है।

3. योग आत्मा – मन, वचन, काया की हलचल प्रति समय आत्मा में होती रहती है। एक समय के लिए भी यह आत्मा निष्पन्द (हलचल–रहित) नहीं रहती। चौदहवें गुणस्थान (अयोगी केवली) तक प्रत्येक आत्मा, योग से युक्त होने के कारण योग आत्मा कहलाती है। जैसे – तरंगित जल।

4. उपयोग आत्मा – 5 ज्ञान, 3 अज्ञान तथा 4 दर्शन को उपयोग कहते हैं। चेतना तथा उपयोग, आत्मा के लक्षण या गुण हैं। कषाय और योग से ग्रस्त होने पर भी आत्मा की चेतना सदैव जाग्रत रहती है। आत्मा कर्मों से कितनी भी भारी क्यों न हो जाये, चाहे एकेन्द्रिय में भी जन्म ले ले, परन्तु मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और अचक्षु दर्शन कम–से–कम ये तीन उपयोग तो पाये ही जाते हैं। आत्मा में विद्यमान इस उपयोग रूप गुण को ही उपयोग आत्मा कहते हैं।

5. ज्ञान आत्मा, 6. दर्शन आत्मा तथा 7. चारित्र आत्मा – अज्ञान, मिथ्यात्व व कषायों की निरंतर कमी होने से रिफाइण्ड अर्थात् शुद्ध होने वाली आत्मा को क्रमशः ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा और चारित्रात्मा कहते हैं। ये आत्मा की उच्च अवस्थाएँ हैं। जब जीव अध्यात्म विकास की ओर अग्रसर होता है, तब वह सत्यासत्य का ज्ञान भी करता है, उनको सही रूप में मानता और पहचानता भी है, तथा अपनी दुर्बलताओं पर विजय पाने का प्रयत्न भी करता है। ये सब सद्गुण सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद ही आते हैं। अतः सम्यक्त्वी जीव जब ज्ञान प्राप्ति की ओर अग्रसर हो तो ज्ञानात्मा, जब श्रद्धायुक्त हो तो दर्शनात्मा, तथा जब चारित्रमय बन जाये तो चारित्रात्मा कहलाता है। जैसे–स्वच्छ और स्थिर जल।

8. वीर्य आत्मा – जैसे परमाणु में ऊर्जा का असीम भण्डार है, तथा विज्ञान ने परमाणु को ऊर्जा का संग्रह (Mass of energy) कहा है, इसी प्रकार इस आत्मा में भी अनन्त शक्ति (वीर्य) का भण्डार है। कषायों के कारण आत्मा की शक्ति प्रकट नहीं हो पाती और कर्म आत्मा को अपने अनुसार चलाने लगते हैं। इतना होने पर भी यह सिद्धान्त है कि कर्म कितने ही शक्तिशाली क्यों

न हो जायें, आत्मा की शक्ति तो कायम रहती ही है और कुछ–न–कुछ प्रकट भी होती रहती है। बारहवें गुणस्थान (क्षीण मोहनीय) के अन्त में वह वीर्य–शक्ति पूर्णतः उजागर हो जाती है। उससे पहले उस शक्ति का प्रकटीकरण अल्प मात्रा में रहता है। अतः प्रत्येक आत्मा 'वीर्य आत्मा' भी है।

द्रव्य आत्मा, दर्शन आत्मा और उपयोग आत्मा, सभी जीवों के होती है। कषाय आत्मा सकषायी जीवों के, योग आत्मा सयोगी जीवों के, ज्ञान आत्मा सम्यग्दृष्टि जीवों के, चारित्र आत्मा सर्वविरत मुनिराजों के और वीर्य आत्मा अयोगी–केवली सहित सभी संसारी जीवों के होती है।

16. सोलहवें बोल : दण्डक चौबीस

दण्डक भी जीवों का एक प्रकार का वर्गीकरण है। यह पहले बोल गति चार का ही कुछ विस्तृत रूप है। इस वर्गीकरण का मुख्य आधार लोक का नक्शा है। लोक में नीचे से प्रारम्भ करके ऊपर तक, जहाँ जो जीव प्रचुरता में पाये जाते हैं, उनको उसी क्रम से 24 दण्डकों में सम्मिलित किया गया है। दण्डक का एक अर्थ दण्ड भोगने का स्थान भी है। क्योंकि जन्म–मरण हमारे कर्मों के ही परिणाम हैं, इसलिए लोक का प्रत्येक स्थान, जहाँ जीव मरकर जन्म लेता है, एक प्रकार से दण्डक ही है। इस बोल में, नीचे से ऊपर तक भौगोलिक स्थिति, तथा वहाँ पर स्थित जीवों के पास उपलब्ध शक्तियों के आधार पर एक क्रम दे दिया गया है। इस क्रम को ही दण्डक के नाम से जानते हैं। वास्तव में दण्डक शब्द दण्ड या रूल (Ruler) रखकर खींची गयी रेखा के लिए है। किसी विषय का विभागपूर्वक वर्णन करने के लिए एक–एक विभाग को एक–एक लाइन में वर्णन करते गये। प्रथम लाइन को प्रथम दण्डक कहा गया। इस प्रकार दण्डक का अर्थ हुआ, एक लाइन या किसी विषय के विभागों में से एक विभाग का वर्णन करने वाला एक वाक्य। शास्त्रों में विभिन्न स्थानों पर, कुछ विषयों को दण्डकों के क्रमानुसार ही समझाया गया है। विभिन्न बोल या थोक संग्रहों में भी, दण्डकों के क्रमानुसार ही वर्णन चलता है।

दण्डक चौबीस
सात नारकों का एक दंडक
रत्नप्रभा
शर्कराप्रभा
वालुकाप्रभा
पंकप्रभा
धूमप्रभा
तमप्रभा
तमतमप्रभा
भवनपति देवों के दस दंडक
असुर कुमार
नाग कुमार
सुपर्ण कुमार
विद्युत कुमार
अग्नि कुमार
द्वीप कुमार
उदधि कुमार
दिशा कुमार
पवन कुमार
स्तनित कुमार
पाँच स्थावरों के पाँच दंडक
पृथ्वीकाय
अप्काय
तेजसकाय
वायुकाय
वनस्पतिकाय
तीन विकलेन्द्रिय के तीन दण्डक
द्वीन्द्रिय
त्रीन्द्रिय
चतुरिन्द्रिय
अंतिम पाँच दंडक
तिर्यंच पंचेन्द्रिय
मनुष्य
व्यंतर देव
ज्योतिष देव
वैमानिक देव

1. सात नारकी का एक दण्डक – हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं, वह रत्नप्रभा (प्रथम नरक) की छत है। अर्थात् रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे, पहली से प्रारम्भ करके क्रमशः नीचे की ओर सात नरक हैं। इनके नाम घम्मा, वंशा, सीला, अंजना, रिट्ठा, मघा और माघवई हैं। नामों के अतिरिक्त इन नरकों की भूमियों की प्रकृति के आधार पर इनके अलग–अलग गोत्र क्रमशः ये हैं – रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा। ये सातों नरक पृथ्वियों में हैं, जो अधोलोक की सात मंजिलों के समान हैं। जितनी नीचे जाते जायेंगे, अन्धकार, अज्ञान तथा दुःख बढ़ते जायेंगे।

2–11 दस भवनपतियों के 10 दण्डक – यों तो अधिकतर देव ऊर्ध्वलोक में रहते हैं, परन्तु भवनपति देव पहली नरक की मंजिल में बने भवनों में रहते हैं। भवनपति देवों के बीच–बीच में नारकियों के आवास आ जाते हैं, जिससे भवनपति देव पृथक्–पृथक् हो जाते हैं। इसी पृथक्ता के कारण 10 भवनपतियों के 10 दण्डक गिने गये हैं। भवनपति देवों के 10 प्रकार हैं –

1. असुर कुमार, 2. नाग कुमार, 3. सुपर्ण कुमार, 4. विद्युत् कुमार, 5. अग्नि कुमार, 6. द्वीप कुमार, 7. उदधि कुमार, 8. दिशा कुमार, 9. पवन कुमार, 10. स्तनित कुमार।

12–16 पाँच स्थावरों के 5 दण्डक – स्थावर कहते हैं स्थिर रहने वाले जीवों को अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय (पानी), तेउकाय (अग्नि) वायुकाय एवं वनस्पतिकाय। यों तो स्थावर पूरे लोक में हैं, परन्तु मध्यलोक में ही ये अधिकता में पाये जाते हैं। अतः इनकी गिनती पहले कर ली गयी। 21वें दण्डक तक के जीव मध्यलोक में ही गिने गये हैं। पाँचों स्थावर इन्द्रिय, पर्याप्ति, दृष्टि, ज्ञान, दर्शन एवं आत्मा के विकास के अनुसार लगभग एक ही श्रेणी के जीव हैं। अतः इनके वर्ग (दण्डक) साथ–साथ ही रखे गये हैं।

17–19. तीन विकलेन्द्रियों के 3 दण्डक – बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय। विकास–दर के हिसाब से ये स्थावरों से अधिक, परन्तु पंचेन्द्रियों से कम विकसित होते हैं। इनमें एक से तो ज्यादा इन्द्रियाँ हैं, परन्तु पाँच से कम ही कम। अतः पूर्ण इन्द्रियों से विकल (रहित) होने के कारण तीनों को संयुक्त रूप से विकलेन्द्रिय कहते हैं। स्थावरों से अधिक, परन्तु तिर्यंच पंचेन्द्रिय से कम विकसित होने कारण इनको इस स्थान पर रखा गया है।

20. तिर्यंच पंचेन्द्रिय का एक दण्डक – पाँच इन्द्रिय वाले पशु–पक्षी विकास के क्रम में

विकलेन्द्रियों से अधिक विकसित तथा मनुष्य से कम विकसित होने के कारण इस स्थान पर गिने गये हैं।

21. मनुष्य का एक दण्डक – इसके बाद मनुष्य का नम्बर आता है। सभी मनुष्यों को एक दण्डक में गिना जाता है। आम बोल–चाल में भी श्रेष्ठ कार्य को कहते हैं कि इक्कीस है, उन्नीस नहीं। इसी प्रकार 24 दण्डकों में मनुष्य का दण्डक मोक्ष–प्राप्ति की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ (इक्कीस) है। अतः हमारा लक्ष्य इस इक्कीसवें दण्डक को पाकर इक्कीस कार्य (आत्मकल्याण) करने का ही होना चाहिए।

22. व्यन्तर देवों का एक दण्डक – यद्यपि व्यन्तर देवों के भी रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे स्थायी आवास हैं, परन्तु ये अधिकतर पृथ्वी पर (मध्य लोक में) वनस्पतियों, पर्वतों, वनों, सरोवरों आदि में ही रहते हैं। अतः इनको मध्य लोक में मानते हुए विकास क्रम में, मनुष्य से अधिक शक्तिशाली मानते हुए इस क्रम पर रखा है।

23. ज्योतिष् देवों का एक दण्डक – चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, ये 5 प्रकार के ज्योतिष् देव माने गये हैं। ऊर्ध्व लोक में इनका क्रम वैमानिक देवों से पहले आने के कारण इन्हें इस स्थान पर गिना जाता है।

24. वैमानिक देवों का एक दण्डक – 26 स्वर्गों में रहने वाले देवताओं को वैमानिक देव कहते हैं। 26 देवलोकों के बीच भौगोलिक दृष्टि से कोई रुकावट नहीं है। एक से एक लगे होने के कारण इनको इकट्ठा एक ही दण्डक में गिना गया है।

17. सत्रहवें बोले : लेश्या छह

1. कृष्ण लेश्या, 2. नील लेश्या, 3. कपोत लेश्या,
4. तेजो लेश्या, 5. पद्म लेश्या, 6. शुक्ल लेश्या।

लेश्या शब्द के दो अर्थ हैं – क. चमकना, ख. चिपकना या चिपकाना।

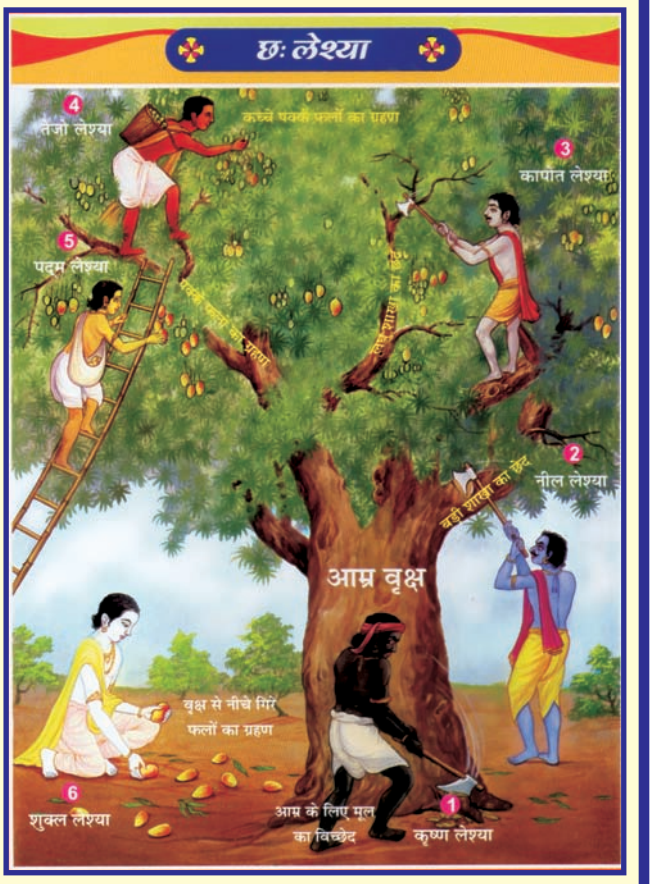

जिस प्रकार पानी साफ–सुथरा व पारदर्शी होता है और उसमें काली, पीली, हरी रंग की गोली डाल दी जाये, तो पानी रंगीन हो जाता है। इसी प्रकार मन, वचन और काया की हलचलों (योग) पर जब कषायों का रंग चढ़ जाता है, तो उस कषाय–रंजित योग की संयुक्त अवस्था को लेश्या कहा जाता है। इसके दो भेद हैं – द्रव्य लेश्या, भाव लेश्या।

चमकने का सम्बन्ध द्रव्य लेश्या से तथा चिपकने या चिपकाने का सम्बन्ध भाव लेश्या से है। पुद्गल (पदार्थ)–रूप लेश्या द्रव्य–लेश्या, तथा भावों के उतार–चढ़ाव रूप लेश्या भाव–लेश्या है। मोटे तौर पर लेश्या के विषय में कहा जा सकता है कि विचारों की अच्छाई–बुराई को तीन– तीन रंगों के माध्यम से बतलाना लेश्या है। हमारे मन के भावों को मुख्य तौर पर अच्छे तथा बुरे या शुभ तथा अशुभ दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। फिर प्रत्येक भाग की तीन–तीन श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं।

अशुभतम, अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर, शुभतम, इस प्रकार भावों के कुल छह प्रकार बन गये। उन छहों को छह नाम दे दिये गये तथा उनके 6 रंग भी निर्धारित कर दिये गये, जो इस

प्रकार हैं –

	विचारों की श्रेणी	लेश्या का नाम	रंग
1.	सर्वाधिक बुरे विचार	कृष्ण लेश्या	काला
2.	मध्यम रूप से बुरे विचार	नील लेश्या	नीला
3.	हल्के रूप से बुरे विचार	कपोत लेश्या	कबूतरी
4.	हल्के रूप से अच्छे विचार	तेजो लेश्या	लाल
5.	मध्यम रूप से अच्छे विचार	पद्म लेश्या	पीला
6.	उत्कृष्ट रूप से अच्छे विचार	शुक्ल लेश्या	सफेद

इस प्रकार हमारे भावों की श्रेणी को भाव लेश्या कहा गया है। उन भावों के उतार–चढ़ाव के कारण शरीर के आसपास के वातावरण, तथा आभा–मण्डल में स्थित पुद्गलों (कणों) के रंग में जो परिवर्तन होता है, उसे द्रव्य लेश्या कहते हैं। इसी कारण इसका 'चमकना' अर्थ सार्थक होता है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि शरीर में निर्मित होने वाले कुछ रासायनिक द्रव्य (Chemicals or Hormones) द्रव्य लेश्या कहलाते हैं। ये ही भिन्न–भिन्न विचारों की उत्पत्ति, उनके नियन्त्रण या सन्तुलन–असन्तुलन में कारण बनते हैं। चूँकि लेश्या का सम्बन्ध पुद्गलों से है, अतः लेश्या में रंग के साथ–साथ गंध, रस और स्पर्श भी पाये जाते हैं।

भाव–लेश्या शब्द मन के कर्म–बंधक परिणामों के लिए प्रयुक्त होता है। कर्मों को आत्मा से चिपकाने में भाव लेश्या अच्छे या बुरे एडहेसिव (Adhesive) अर्थात् गोंद का कार्य करती है। यह तो हम जान ही चुके हैं कि योग अर्थात् मन, वचन, काया की हलचल के साथ जब कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) का मिश्रण हो जाता है, तो आत्मप्रदेशों के आस–पास रहे हुए कर्म–पुद्गल (परमाणु–कण) आत्मा से चिपक जाते हैं। वास्तव में इस योग एवं कषाय के मिश्रण का ही नाम लेश्या है। कषायों की तीव्रता में लेश्या अशुभ तथा कषायों की मंदता में शुभ होती है। फिर तीव्रतम, तीव्रतर तथा तीव्र कषायों के अनुसार तीन अशुभ लेश्याएँ तथा मंद, कुछ अधिक मंद तथा मंदतम कषायों के अनुसार तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। तेज क्रोध में जब आँखे लाल हो जाती हैं, तब उसको लाल–पीला होना कहा जाता है, इसी प्रकार भाव लेश्या को द्रव्य लेश्या एवं उसके सम्बन्धित रंग से प्रकट किया जाता है।

जैसे तेज क्रोध में थप्पड़ अधिक तेज तथा कम क्रोध में कम तेज लगता है तथा प्यार में

वही थप्पड़ वाला हाथ सहलाकर सकून प्रदान करता है। इसी प्रकार कषायों की तीव्रता, मन्दता अथवा लेश्याओं की अशुभता, शुभता के अनुसार कर्म भी तीव्र–मन्द या अशुभ–शुभ ही बंधते हैं।

आधुनिक विज्ञान भी द्रव्य लेश्याओं को मानता है। यद्यपि लेश्या के नाम से नहीं, अपितु अपने अलग ही ढंग से। किसी भी व्यक्ति के चारों ओर स्थित वातावरण का चित्र एक विशेष प्रकार के कैमरे (किर्लियोग्राफी) से खींचा जा सकता है, जिसमें कुछ रंग नजर आते हैं। इन रंगों में परिवर्तन भी होता रहता है। सम्भवतः ये द्रव्य लेश्या हैं।

छहों लेश्याओं को समझाने के लिए कुछ उदाहरण दिये जाते हैं, उनमें से 'जामुन' वाला उदाहरण सर्वाधिक विख्यात है। आपने स्थानकों अथवा कुछ घरों में टंगा हुआ षट्लेश्या का वह चित्र देखा होगा, जिसमें एक बड़े जामुन या आम के पेड़ के ऊपर तथा नीचे कुल 6 व्यक्ति जामुन तोड़ते या खाते हुए दिखाये गये हैं। वह उदाहरण इस प्रकार है – छह अलग–अलग लेश्या (भाव–परिणामों) वाले व्यक्ति कुल्हाड़ी लेकर वन में गये। उन्होंने एक जामुन का पेड़ देखा तथा उन्हें जामुन खाने की इच्छा हुई। एक व्यक्ति ने कहा – इस पेड़ को जड़ से काट दें, फिर जामुन खायेंगे। दूसरा बोला – पेड़ को जड़ से काटने की क्या जरूरत है, बड़ी–बड़ी शाखाएँ काट लो। तीसरा व्यक्ति केवल टहनियों को ही काटने की बात कहने लगा। चौथा बोला – ये टहनियाँ–वहनियाँ काटने के लफड़े में काहे को पड़ते हो, पेड़ या टहनियाँ थोड़े ही खानी हैं। चलो, इस पर चढ़कर सारे जामुन–जामुन तोड़ लो, फिर बैठकर मजे से खायेंगे। पाँचवाँ बोला – क्यों भई ! कच्चे–पक्के, सड़े–गले सारे ही जामुन खाने हैं क्या ? फिर, इतने जामुनों का हम क्या करेंगे? ऐसा करते हैं कि पर्याप्त मात्रा में पके–पके जामुन तोड़ लो, फिर आराम से बैठकर, खाकर अपना पेट भरेंगे। तब जो शान्त–सा अलग ही खड़ा था, वह गम्भीर–सा व्यक्ति बोला–भई! क्यों इतना सब कुछ करते हो? हमें पेट भरने से ही तो मतलब है। यह देखो, पेड़ के नीचे, चारों ओर कितने ताजे–ताजे, मोटे–मोटे जामुन बिखरे पड़े हैं। इन्हें ही उठाओ और खाकर अपना काम चलाओ।

अब आप समझ ही गये होंगे विचारों की अच्छी–बुरी श्रेणी को। पेड़ के बारे में छहों के अलग–अलग विचार हैं। पहले वाला पेड़ के प्रति अधिक क्रूर नजर आता है। दूसरे वाला कुछ कम और छठा तो पेड़ को हाथ भी नहीं लगाना चाहता, हथियार की तो बात ही क्या? इन छहों की लेश्याएँ क्रमशः कृष्ण, नील, कपोत, तेजो, पद्म तथा शुक्ल लेश्या हैं।

18. अठारहवें बोले : दृष्टि तीन

1. सम्यक् दृष्टि, 2. मिथ्यादृष्टि, 3. मिश्र दृष्टि।

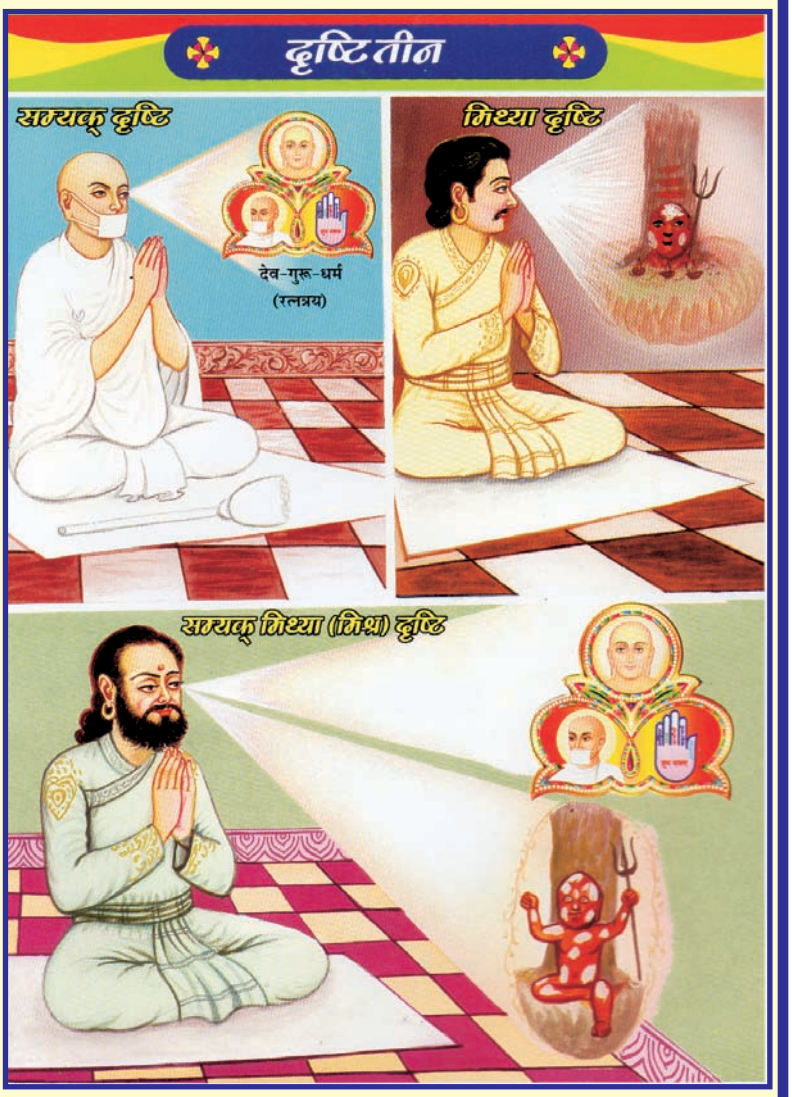

दृष्टिकोण को ही दृष्टि कहते हैं। जैसे विचारों को नकारात्मक और सकारात्मक, इन दो भागों में बाँटा गया है, जिन्हें हम नैगेटिव और पोजिटिव थिंकिग कहते हैं, उसी प्रकार दृष्टिकोण 3 प्रकार का होता है। पूर्व के विवेचनों में हम सम्यक्त्व, मिथ्यात्व अथवा सम्यक् ज्ञान, अज्ञान के बारे में जान ही चुके हैं। इसी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के आधार पर तीन प्रकार की दृष्टि बताई गयी हैं।

1. सम्यक् दृष्टि – जिस जीव को सम्यक्त्व (सम्यक् ज्ञान) होता है, उसके दृष्टिकोण को सम्यक् दृष्टि कहते हैं। सम्यक्त्व के कारण उसकी श्रद्धा, रुचि, विचारधारा ऐसी होगी कि वह सही को सही तथा गलत को गलत कहेगा। देव, गुरु और धर्म के सही स्वरूप को पहचानेगा।

2. मिथ्या दृष्टि – जो मिथ्यात्व का शिकार होता है, उसका दृष्टिकोण मिथ्या दृष्टि कहलाता है। इस प्रकार के जीव को कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर श्रद्धा होगी। धार्मिक क्रियाओं तथा

आत्मकल्याण के मार्ग को वह फालतू की चीज समझेगा। पाप–क्रियाओं और संसार–भ्रमण को बढ़ाने वाले मार्ग की ओर उसकी रुचि होगी तथा उसी में वह आनन्द का अनुभव करेगा।

इस 'दृष्टि' को अंग्रेजी में हम एप्रोच (Approach) अर्थात् सोचने का तरीका या स्थितियों, कार्यों तथा व्यक्तियों के विश्लेषण का तरीका भी कहते हैं। सही तरह से सोचने वाला (Positive approach) व्यक्ति, खराब से खराब परिस्थिति में भी कुछ–न–कुछ सही ढूंढ़ ही लेता है। जैसे श्रीकृष्ण जी ने कीड़े पड़े हुए, बदबूदार कुत्ते के शव से घृणा न करके, उसके सफेद और चमचमाते हुए दाँतों की ओर ही ध्यान दिया था, तथा उसकी प्रशंसा की थी। इसके विपरीत मिथ्या–दृष्टि (Negative approach) वाला व्यक्ति सब कुछ ठीक–ठाक परिस्थितियों में भी दुर्गुण ही ढूंढेगा, दोष ही निकालेगा। तभी तो 'नन्दी सूत्र' में बताया गया है कि सम्यक् दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत (मिथ्यात्व, अज्ञान की ओर ले जाने वाला साहित्य) भी सम्यक्श्रुत (सच्चे धर्म तथा ज्ञान की ओर जाने वाला साहित्य) होता है, क्योंकि वह उसमें से भी अपने मतलब की, कल्याण की बातें ग्रहण कर लेता है। इसके विपरीत मिथ्या–दृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत बन जाता है। वह तो धर्म –शास्त्र पढ़कर भी उसमें से धार्मिक पुरुषों के जीवन के दोष ही ढूंढ़ेगा तथा व्यर्थ के कुतर्क करेगा।

3. मिश्र दृष्टि – बहुत थोड़े समय के लिए ही ऐसी स्थिति बन पाती है। इस स्थिति में न तो धर्म के प्रति श्रद्धा ही होती है और न ही अश्रुद्धा। इस तरह का जीव न तो सम्यक् दृष्टि होता है, और न ही मिथ्या दृष्टि।

19. उन्नीसवें बोले : ध्यान चार

1. आर्त्त ध्यान, 2. रौद्र ध्यान, 3. धर्म ध्यान, 4. शुक्ल ध्यान।

किसी एक विषय पर मन का लग जाना, किसी एक दिशा में बहते चले जाना ध्यान है। यह विषय अच्छा भी हो सकता है, बुरा भी। मनःस्थिति या State of Mind को ध्यान कहते हैं। ध्यान किया नहीं जाता, परन्तु सही–गलत की सावधानी बनी रहे, तो अभ्यासपूर्वक मन बुरे ध्यान से हटाकर, अच्छे ध्यान की ओर लगाया जा सकता है। राग–द्वेष की स्थिति में, कुछ देर तक मन की एकाग्रता अशुभ ध्यान है। आर्त्त ध्यान एवं रौद्र ध्यान अशुभ ध्यान हैं। राग–द्वेष से हटकर शान्त स्थिति में रमण करना शुभ ध्यान है। धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान शुभ ध्यान हैं। इन चारों ध्यानों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

1. आर्त्त ध्यान – राग द्वेष के विषयों का सामान्य चिन्तन आर्त्त ध्यान है। इसका शास्त्रीय परिचय है – इष्ट के वियोग तथा अनिष्ट के संयोग का सतत चिन्तन। जो हमें प्रिय है, अनुकूल है

– चाहे वस्तु हो, व्यक्ति हो, स्थितियाँ हों, परिस्थितियाँ हों, उनके पाने की चाह तथा उनके छिन जाने के कारण या छिनने की आशंका से मन में शोक, उदासी, खिन्नता, पश्चात्ताप, रोना–बिलखना, संताप, आँसू बहाना, कोसना आदि का नाम ही आर्त्त ध्यान है।

2. रौद्र ध्यान – जब आर्त्त ध्यान अपनी सीमाएँ तोड़कर आक्रामक हो जाता है, तो रौद्र ध्यान बन जाता है। आर्त्त ध्यान में की जाने वाली चाह को पूरा करने के लिए, तथा उस भय से निबटने के लिए हिंसा, झूठ, चोरी तथा अन्य सभी पापों की कठोरतम योजनाएँ रौद्र ध्यान हैं। इसके बाह्य लक्षण हैं – आँखों का लाल होना, स्वभाव में तीखापन, वाणी तथा हाथों–पैरों में अविवेक की स्थिति। कषायों का अत्यन्त मुखर हो जाना रौद्र ध्यान है। अपना अनिष्ट करने वाले से कठोर बदला लेने की भावना रौद्र ध्यान है।

3. धर्म ध्यान – मन का सद्विचारों की ओर लग जाना धर्म ध्यान है। धर्म का चिन्तन, सांसारिक विषयों से निरपेक्षता ही धर्म ध्यान है। जैसे बीमारी ठीक होने का लक्षण है – भूख लगना। उसी प्रकार धर्म ध्यान का लक्षण है – त्याग, व्रत, पचक्खाण आदि तथा भगवान् द्वारा बताये गये धर्म के प्रति रुचि, शास्त्र या सत्संग की रुचि।

4. शुक्ल ध्यान – धर्म ध्यान में बताये गये सद्विचारों का आश्रय लेकर मन को बहुत ज्यादा एकाग्र बना लेना। मोक्ष की मंजिल को पाने की सच्ची, निर्मल व तीव्र आकांक्षा का रूप ही शुक्ल ध्यान है। जिस प्रकार दूध एक निर्मल एवं पौष्टिक पेय पदार्थ है तथा उसे आँच पर कढ़ाते–कढ़ाते उसका सार मावा बच जाता है। उसी प्रकार धर्म ध्यान की ऊँची श्रेणी चढ़ते–चढ़ते, अधिक गहराई में जाते–जाते, विशुद्ध स्वरूप का चिंतन ही शुक्ल ध्यान है।

20. बीसवें बोले : षट् द्रव्य के तीस भेद

1. धर्मास्तिकाय,
2. अधर्मास्तिकाय,
3. आकाशास्तिकाय,
4. काल,
5. जीवास्तिकाय,
6. पुद्गलास्तिकाय

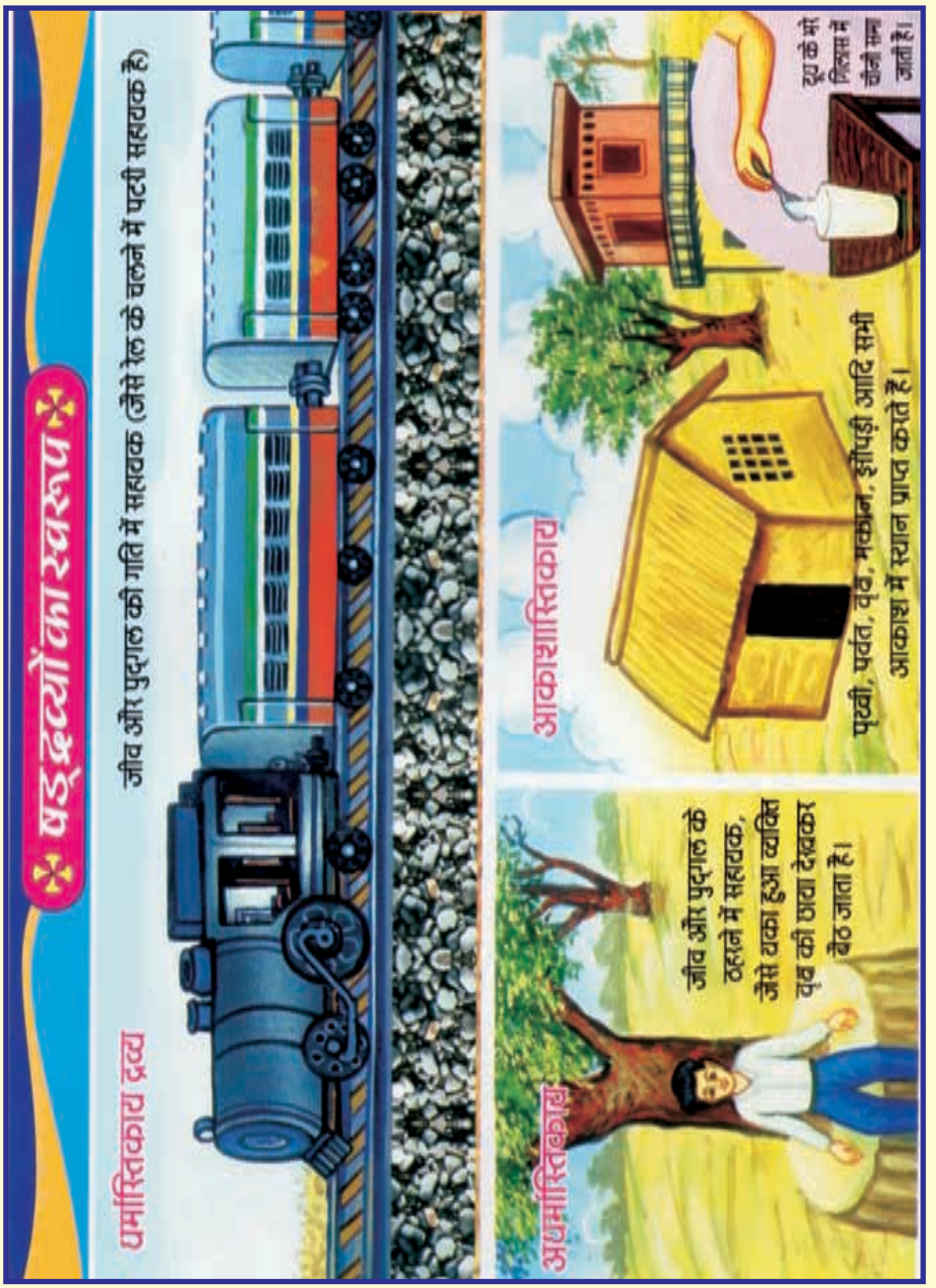

इन छहों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं गुण, इन पाँच पहलुओं के अनुसार व्याख्या करने पर 6 × 5 = 30 भेद होते हैं। चौदहवें बोल छोटी नवतत्त्व के 115 भेदों का अध्ययन करते समय अजीव तत्त्व के अन्दर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय तथा जीव तत्त्व के अन्दर जीवास्तिकाय की व्याख्या तो हम समझ ही चुके हैं। अब केवल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं गुण, इन पाँच दृष्टिकोणों से इन पर विचार करते हैं। इन पाँच दृष्टिकोणों से चिन्तन करने पर किसी भी वस्तु का सही–सही ज्ञान हो जाता है। द्रव्य शब्द यहाँ पर दो बार प्रयुक्त हुआ है। पहली बार तो मुख्य बोल षट् द्रव्य में तथा दूसरी बार पाँच दृष्टिकोणों में। पहली बार के द्रव्य का अर्थ 'पदार्थ' है, तथा दूसरी बार द्रव्य का अर्थ 'गिनती' से है। क्षेत्र–अर्थात् दायरा यानि कि वह द्रव्य कहाँ तक फैला है। काल – अर्थात् द्रव्य कितना प्राचीन है और कब तक रहेगा। भाव–अर्थात् वस्तु का सही स्वरूप क्या है अर्थात् रूप–रंग–गंध आदि कैसी है। गुण–अर्थात् उसके लक्षण तथा विशेषताएँ।

अब निम्न सारणी से इनकी इकट्ठी व्याख्या हो जाती है।

1. धर्मास्तिकाय : द्रव्य – एक, क्षेत्र – केवल सम्पूर्ण लोक (अलोक नहीं), काल अनादि – अनन्त, भाव – वर्ण, गंध, रस, स्पर्श कुछ नहीं, अरूपी, अजीव है, गुण – चलने में सहायक।

2. अधर्मास्तिकाय : द्रव्य – एक, क्षेत्र केवल सम्पूर्ण लोक, काल – अनादि–अनन्त, भाव – वर्ण, गंध, रस, स्पर्श कुछ नहीं, अरूपी, अजीव है। गुण – ठहराव में सहायक।

3. आकाशास्तिकाय : द्रव्य – एक, क्षेत्र – सम्पूर्ण लोक तथा सम्पूर्ण अलोक, काल – अनादि – अनन्त, भाव – वर्ण, गंध, रस, स्पर्श कुछ नहीं, अरूपी, अजीव है, गुण – स्थान देता है।

4. काल : द्रव्य – एक, क्षेत्र – मात्र अढ़ाई द्वीप में, काल – अनादि–अनन्त, भाव – वर्ण, गंध, रस, स्पर्श कुछ नहीं, अरूपी, अजीव है। गुण – नये को पुराना तथा नष्ट करता है।

5. जीवास्तिकाय : द्रव्य – अनन्त, क्षेत्र – केवल सम्पूर्ण लोक, काल – अनादि–अनन्त, भाव – वर्ण, गंध, रस, स्पर्श कुछ नहीं, अरूपी, जीव है। गुण – चेतना, ज्ञान–रूप है।

6. पुद्गलास्तिकाय : द्रव्य – अनन्त, क्षेत्र – केवल सम्पूर्ण लोक, काल – अनादि–अनन्त, भाव – वर्ण, गंध, रस, स्पर्श सभी हैं, गुण – गलन, सड़न, बनना, बिगड़ना।

इसी सारणी को अब इस प्रकार समझेंगे।

द्रव्य : धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तथा काल गिनती में एक हैं, अनेक नहीं

काल द्रव्य
जीव और पुद्गल को परिणमन करने में सहायता देता है।
युवा
बालक
वृद्ध
साईकिल
पलंग
मेज
अर्थी
पुद्गलास्तिकाय
कुर्सी
अचेतन पदार्थ
कार
जीवास्तिकाय
इनका उपयोग गुण– चंद्रमा की कलाओं की तरह घटता बढ़ता रहता है।

हैं, तथा जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय गिनती में अनन्त हैं।

क्षेत्र : धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय केवल लोक में है, अलोक में नहीं। काल केवल अढ़ाई द्वीप अर्थात् जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड तथा अर्द्धपुष्कर द्वीप एवं लवण समुद्र तथा कालोदधि समुद्र में है। इन सबका संयुक्त क्षेत्र समतल कागज पर खींचे गये एक वृत्त (गोले) के समान है, जिसका व्यास 45 लाख योजन है। आकाशास्तिकाय लोक तथा अलोक दोनों जगह है।

काल : छहों द्रव्य अनादि काल से हैं तथा अनन्त काल तक रहेंगे। कभी समाप्त नहीं होंगे।

भाव : पुद्गल में तो वर्ण, गंध, रस और स्पर्श पाया जाता है, बाकी किसी में नहीं।

गुण : धर्मास्तिकाय चलने में सहायक है, जैसे – जल मछली की गति में सहायक होता है। अधर्मास्तिकाय ठहराव में सहायक होता है, जैसे – छाया में पथिक ठहरता है। आकाशास्तिकाय स्थान देता है, जैसे – दूध में पताशा काल। नये को पुराना करने तथा नष्ट करने में सहायक है, जैसे – कैंची कपड़े को काटने में।

जीवास्तिकाय जीव का गुण चेतना एवं ज्ञान है, जो कभी प्रकट हो जाती है, कभी अस्त हो जाती है, परन्तु नष्ट नहीं होती, जैसे – चन्द्रमा की कलाएं, उसका आकार।

पुद्गलास्तिकाय का गलना–सड़ना, बनना–बिगड़ना, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श को बदलना गुण है, जैसे – बादलों की नाना अवस्थाएं।

21. इक्कीसवें बोले : राशि दो

1. जीव राशि, 2. अजीव राशि।

राशि का अर्थ है – ढेर। पहले भी कहा गया है कि जीव आदि के अलग–अलग दृष्टिकोणों से विभिन्न भेद किये जा सकते हैं। यह संसार का सबसे साधारण किस्म का भेद है। संसार या लोक में जो कुछ भी है, वह या तो जीव है या अजीव। इस प्रकार दो भेद हैं। पहले हमने जीव तथा अजीव के 14–14 भेद पढ़े हैं। यहाँ पर उनके अधिकतम भेद बतलाये गये हैं। जो जीव के 563 तथा अजीव के 560 हैं।

जीव के 563 भेद –

1. नारकी के 14, 2. तिर्यंच के 48, 3. मनुष्य के 303, 4. देव के 198 भेद।

1. नारकी के 14 भेद – सात नारकी के पर्याप्त एवं अपर्याप्तः कुल 14

2. तिर्यंच के 48 भेद –

(क) पृथ्वीकाय के चार भेद – सूक्ष्म बादर। इनके अपर्याप्त तथा पर्याप्त।

(ख) अप्काय के चार भेद – सूक्ष्म, बादर। इनके अपर्याप्त तथा पर्याप्त।

(ग) तेउकाय के चार भेद – सूक्ष्म, बादर। इनके अपर्याप्त तथा पर्याप्त।

(घ) वायुकाय के चार भेद – सूक्ष्म, बादर। इनके अपर्याप्त तथा पर्याप्त।

(ङ) वनस्पतिकाय के छह भेद – सूक्ष्म, साधारण और प्रत्येक। इन 3 के अपर्याप्त और पर्याप्त।

तीन विकलेन्द्रिय के छह भेद – बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, इन 3 के अपर्याप्त और पर्याप्त।

पंचेन्द्रिय के पाँच भेद – 1. जलचर, 2. स्थलचर, 3. खेचर, 4. उर–परिसर्प, 5. भुज–परिसर्प। इन 5 के संज्ञी, असंज्ञी के भेद से 10 भेद हैं और इनके अपर्याप्त तथा पर्याप्त कुल 20 भेद हैं। इस प्रकार तिर्यंच के कुल 48 (4 + 4 + 4 + 4 + 6 + 6 + 20) भेद हैं।

3. मनुष्यों के 303 भेद –

15 कर्मभूमि के, 30 अकर्मभूमि के, 56 अन्तरद्वीप के इस प्रकार 101 हुए। ये 101 अपर्याप्त, 101 पर्याप्त तथा इन 101 क्षेत्रों में चौदह प्रकार के अशुचि स्थानों में उत्पन्न होने वाले सम्मूर्च्छिम–असंज्ञी–अपर्याप्त मनुष्यों के 101 भेद, इस प्रकार कुल 303 भेद होते हैं। ये सम्मूर्च्छिम मनुष्य अपर्याप्त अवस्था में ही काल कर जाते हैं। इसी कारण इनका पर्याप्त का भेद नहीं होता है।

कर्मभूमि – जहाँ, असि, मसी, कृषि, वाणिज्य, शिल्प–कला की प्रवृत्ति होती है, उसे 'कर्म भूमि' कहते हैं। इसके 15 भेद हैं – 5 भरत, 5 ऐरावत, 5 महाविदेह।

अकर्मभूमि – जहाँ उपरोक्त प्रकार की प्रवृत्तियाँ नहीं होती और दस प्रकार के कल्प वृक्षों द्वारा निर्वाह होता है, उसे 'अकर्म भूमि' या 'भोग–भूमि' कहते हैं। इसके 30 भेद हैं – 5 देवकुरू, 5 उत्तरकुरू, 5 हरिवास, 5 रम्यक्वास, 5 हैमवत, 5 हैरण्यवत।

अन्तरद्वीप – जम्बूद्वीप के बाहर लवण समुद्र के भीतर 56 द्वीप हैं, जिनको अन्तरद्वीप कहते हैं।

4. देवों के 198 भेद –

10 भवनपति, 15 परमाधार्मिक, 16 व्यन्तर, 10 त्रिजृंभक, 10 ज्योतिषी, 12 वैमानिक, 3

किल्विषी, 9 लोकांतिक, 9 नवग्रैवेयक, 5 अनुत्तर विमान। ये 99 प्रकार के देव हैं। इनके अपर्याप्त तथा पर्याप्त इस प्रकार कुल 198 भेद हैं।

इस प्रकार जीव के कुल 563 (14 + 48 + 303 + 198) भेद होते हैं।

अजीव के 560 भेद – (1) अरूपी अजीव के 30, (2) रूपी अजीव के 530।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय इन 3 के स्कंध, देश, प्रदेश ये 9 तथा काल का 1, इस प्रकार 10 भेद हैं। इसके अलावा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, इन चारों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण, इस प्रकार 5–5 भेद होने से कुल 20 भेद और हैं। इस प्रकार अरूपी अजीव के कुल 10+20 = 30 भेद हैं। रूपी अजीव के 530 भेद इस प्रकार हैं –

वर्ण पाँच – काला, नीला, लाल, पीला, श्वेत। प्रत्येक के 2 गंध, 5 रस, 8 स्पर्श और 5 संस्थान, इन 20 भेदों से गुणा करने पर 100 भेद होते हैं।

गंध दो – सुगन्ध और दुर्गन्ध। प्रत्येक के 5 वर्ण, 5 रस, 8 स्पर्श और 5 संस्थान, इन 23 भेदों से गुणा करने पर 46 भेद होते हैं।

रस पाँच – तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा और मीठा। प्रत्येक के 5 वर्ण, 2 गंध, 8 स्पर्श और 5 संस्थान, इन 20 भेदों से गुणा करने पर 100 भेद होते हैं।

स्पर्श आठ – कर्कश, कोमल, हल्का, भारी, ठण्डा, गर्म, रूखा, चिकना। प्रत्येक के 5 वर्ण, 2 गंध, 5 रस, 6 स्पर्श और 5 संस्थान, इन 23 भेदों से गुणा करने पर 184 भेद होते हैं। यहाँ पर 8 स्पर्श में से एक स्वयं और एक विरोधी स्पर्श को छोड़कर शेष 6 स्पर्श लिये गये हैं।

संस्थान पाँच – परिमण्डल, वृत्त, त्र्यस्र, चतुरस्र और आयत। प्रत्येक के 5 वर्ण, 2 गंध, 5 रस और 8 स्पर्श, इन 20 भेदों से गुणा करने पर 100 भेद होते हैं।

इस प्रकार रूपी अजीव के 100 + 46 + 100 + 184 + 100 = 530 भेद होते हैं।

22. बाइसवें बोले श्रावक के बारह व्रत

जैन धर्म के वे अनुयायी, जो सम्पूर्ण रूप से पापों का त्याग करके साधु नहीं बन सकते, किन्तु कुछ छूटें (आगार) रखकर, पापों के अनावश्यक सेवन, एवं मोटे तौर पर उनके सेवन का त्याग करते हैं, श्रावक कहलाते हैं। उनके इस त्याग को अगार धर्म भी कहा है। ऐसे कुल 12 व्रत हैं। इन 12 व्रतों में प्रथम 5 व्रतों को अणुव्रत कहते है। अणु का अर्थ स्थूल या छोटा होता है। क्योंकि इनमें पापों का त्याग मोटे तौर पर होता है, इसलिए इन्हें अणुव्रत कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह, ये पाँच मुख्य अणुव्रत हैं। शेष 7 व्रत (3 गुणव्रत तथा 4 शिक्षाव्रत) उन्हीं की गुणवत्ता बनाये रखने एवं उनके प्रति दृढ़ता बनाये रखने के लिए हैं। संक्षेप में 12 व्रतों का परिचय इस प्रकार हैं–

1. स्थूल प्राणातिपात – विरमण व्रत (अहिंसा अणुव्रत) – चलते –फिरते (त्रस), निरपराध जीवों की, जानबूझकर हिंसा करने का त्याग।

2. स्थूल मृषावाद– विरमण व्रत (सत्य अणुव्रत) – विवाह के मामले में, लड़के–लड़की के विषय में, पशुओं की बिक्री के समय, जमीन–जायदाद आदि के मामले में झूठ बोलने का

त्याग। किसी की धरोहर हड़पने एवं झूठी गवाही देने का त्याग।

3. स्थूल अदत्तादान–विरमण व्रत (अचौर्य अणुव्रत) – लूट–पाट करने, ताला आदि खोलकर चोरी करने, किसी अनजान की पड़ी हुई वस्तु को लालच–भावना से लेने, तस्करी करने–करवाने तथा नाप–तोल–पैकिंग आदि में बेईमानी करने का त्याग।

4. स्व दार/पुरुष–संतोष, पर दार/पुरुष–विवर्जन–रूप मैथुन–विरमण व्रत (ब्रह्मचर्य अणुव्रत) – अपनी विवाहिता पत्नी अथवा अपने पति के अतिरिक्त, अन्य नारी अथवा पुरूष के साथ काम –भोग सेवन का त्याग तथा अपनी पत्नी/पति के साथ भी काम–भोग–सेवन की मर्यादा करना।

5. स्थूल परिग्रह–परिमाण व्रत (अपरिग्रह अणुव्रत) – सोना, चांदी आदि बहुमूल्य वस्तुओं, धन– धान्य, जमीन–जायदाद, चौपाये पशु, नौकर–चाकर एवं अन्य उपयोग की वस्तुओं को रखने की मर्यादा रखना।

6. दिशा–परिमाण व्रत – जीवन–पर्यन्त के लिए, आने–जाने के क्षेत्र की सीमा बांधना अर्थात् निश्चित क्षेत्र (नगरों, प्रदेशों, देशों आदि) से आगे न जाना।

7. उपभोग–परिभोग–परिमाण व्रत – प्रतिदिन प्रयोग में आने वाले खाद्य–पेय पदार्थों, अन्य वस्तुओं तथा साधनों की जीवन–पर्यन्त के लिए मर्यादा करना। यद्यपि भविष्य में, सारे जीवन में प्रयोग में आने वाली वस्तुओं की कल्पना करना कठिन कार्य हैं, लेकिन एक वर्ष तक जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण करके, आवश्यक वस्तुओं की सूची बनायी जा सकती है। इसी व्रत के अन्तर्गत ऐसे व्यवसायों (15 कर्मादान) का भी त्याग किया जाता है, जिनमें मुख्यतया पंचेन्द्रिय तथा अन्य त्रस प्राणियों की अधिक हिंसा होती है, निर्धन श्रमिकों का शोषण होता है तथा अनैतिकता को बढ़ावा मिलता है।

8. अनर्थ–दण्ड–विरमण व्रत – बिना किसी प्रयोजन के की जाने वाली हिंसा एवं दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करना। जैसे – चलते–चलते पशुओं को पीटना, चलते–चलते पेड़ों से फूल, पत्ते तोड़ना, आते–जाते हुये कीड़े–मकौड़े आदि से छेड़छाड़ करना, बिना जरूरत घास पर चलना इत्यादि एवं नशा करना, अश्लील बातें करना, आर्त्तध्यान, रौद्र ध्यान करना, हिंसा के साधन जुटाना तथा उपभोग–परिभोग को अधिक बढ़ाना जैसी बातों का त्याग करना।

इसके आगे के चार व्रत, जिन्हें शिक्षा व्रत भी कहते हैं, 24 घण्टे लागू नहीं रहते। अपितु

अपनी शक्ति के अनुसार, इच्छानुसार, दिन में एक बार, 10–15 दिनों में, महीनों में अथवा वर्ष में एक–दो बार या संयोग के अनुसार इनका पालन किया जाता हैं। संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

9. सामायिक व्रत – 48 मिनट (दो घड़ी या एक मुहूर्त) के लिए एकान्त में सामायिक के वेष में, मुखवस्त्रिका लगाकर, आसन–पूजंनी लेकर, आत्म–चिन्तन, धर्म–ध्यान, स्वाध्याय, प्रवचन–श्रवण की क्रिया का नाम सामायिक है। सामायिक में 18 पापों का त्याग होता है तथा 48 मिनट के लिए संसार से निवृत्ति अंगीकार की जाती है।

10. देशावकाशिक व्रत – प्रतिदिन आने–जाने की क्षेत्र–सीमा तथा खाने–पीने की वस्तुओं की मर्यादा करना। यह छठे, सातवें व्रत से मिलता–जुलता है। अन्तर यह है कि छठे, सातवें में जीवन–पर्यन्त की मर्यादा होती है, परन्तु दसवें में मर्यादा प्रतिदिन के लिए अलग–अलग की जाती है तथा उनका दायरा भी कम होता है अर्थात् मर्यादा (Limitation) ज्यादा होती है। जैसे किसी ने छठे व्रत में जीवनभर भारत से बाहर जाने का तथा सातवें व्रत में 25 या ज्यादा हरी सब्जियाँ न खाने का नियम लिया हो, तो वह दसवें व्रत में एक दिन के लिए अपने शहर से बाहर न जाने तथा 5 हरी सब्जी से अधिक न खाने का नियम कर सकता है। दयाव्रत तथा संवर करना भी इसी व्रत के अन्तर्गत आता है। व्यवसाय आदि से आंशिक अवकाश लेकर एकान्तवास करना इस व्रत का लक्ष्य है। यह एक प्रकार से शिविर–प्रशिक्षण (Camp life) व्यतीत करना है।

11. पौषधव्रत – अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा अथवा अन्य अवसरों पर आहार का त्याग करके, श्रृंगार, व्यापार, भोग, पापों को छोड़कर, साधु–वेष में स्थानक आदि में रहकर धर्म–ध्यान में लीन रहना।

12. अतिथि–संविभाग व्रत – घर पर पधारे साधु–साध्वी को उनके योग्य तथा उनके नियमों में कोई दोष न लगे, ऐसा आहार–पानी, लकड़ी का पट्टा आदि एवं औषधि आदि शुद्ध एवं श्रद्धा भावना से देना। यहाँ पर अतिथि का अर्थ पाँच महाव्रतधारी साधु –साध्वी से है।

23. तेईसवें बोले : साधुजी के पाँच महाव्रत

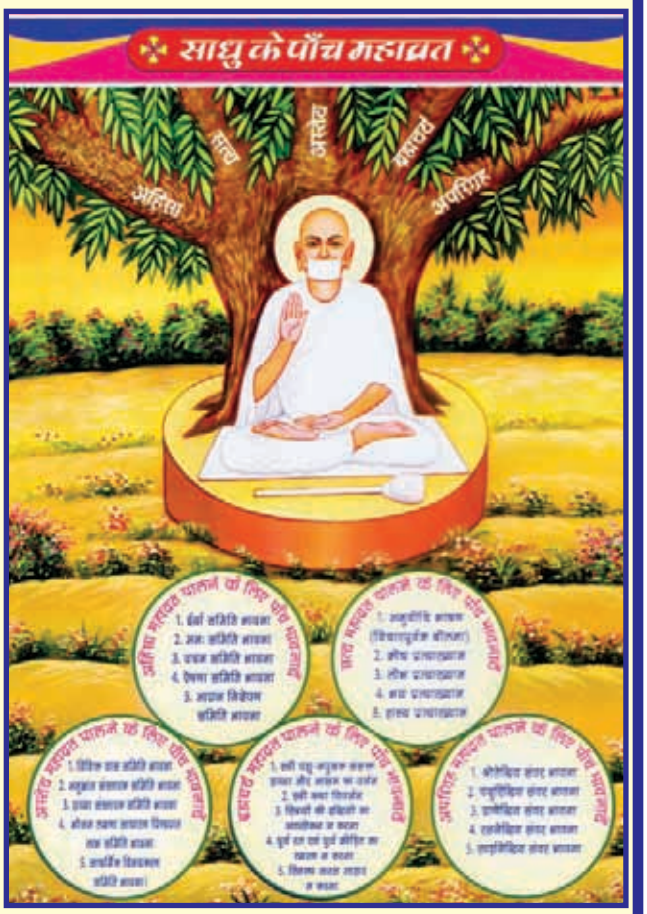

एक गृहस्थ संसार में रहते हुए, उससे निर्लिप्त रहता हुआ, कुछ छूटों (आगारों) के साथ 12 व्रत पालता है तथा श्रावक का दर्जा प्राप्त करता है, परन्तु संसार को पूरी तरह छोड़कर, बिना किसी छूट के, साधु–साध्वी 5 महाव्रतों का पालन करते हैं। श्रावक के जो 5 अणुव्रत हैं, उन्हीं को सम्पूर्ण रूप से, बिना किसी छूट के पालना 5 महाव्रत कहलाता है।

1. अहिंसा महाव्रत – त्रस, स्थावर, अपराधी, निरपराधी जीवों की जीवन–पर्यंत मन, वचन अथवा काया से हिंसा न करना, न करवाना, न करने वाले का अनुमोदन करना।

2. सत्य महाव्रत – क्रोध, लोभ, भय या हँसी में भी मोटा–छोटा किसी भी प्रकार का झूठ मन, वचन अथवा काया से न बोलना, न किसी से बुलवाना और न ही बोलने वाले को अच्छा समझना।

3. अचौर्य महाव्रत – स्वामी की आज्ञा के बिना, उससे याचना किये बिना, छोटी–बड़ी कोई भी वस्तु, यहाँ तक कि एक तिनका भी मन, वचन अथवा काया से न तो स्वयं लेना, न किसी दूसरे को दिलवाना, न लेते हुए का समर्थन करना। तभी तो कहा जाता है कि जैन साधु पानी भी मांगकर पीता है।

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत – मन, वचन अथवा काया से काम–भोग का सेवन न करना, न करवाना और न करने वाले का समर्थन ही करना। ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करने के लिए साधु स्त्री एवं

साध्वियां पुरुष को छूने का भी त्याग करने जैसी 9 कठिन मर्यादाओं (ब्रह्मचर्य की नव बाड़) का पालन करते हैं।

5. अपरिग्रह महाव्रत – संयम–निर्वाह के लिए आवश्यक, अति अल्प वस्तुओं के अतिरिक्त, एक सूई का भी संग्रह करके न रखना। मन–वचन–काया से करना नहीं, कराना नहीं और करने वाले का समर्थन भी नहीं करना।

24. चौबीसवें बोले प्रत्याख्यान के 49 भांगे

प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग, नियम या प्रतिज्ञा। किसी भी प्रत्याख्यान में हम किसी विशेष कार्य को करने अथवा न करने का जो प्रण लेते हैं, उसमें कई तरह के विकल्प हमारे सामने होते हैं। जैसे – हिंसा का त्याग है। साधुजी हिंसा मन, वचन, काया किसी भी तरह न तो स्वयं करते हैं, न दूसरों से करवाते हैं और करने वाले का समर्थन भी नहीं करते हैं। इस प्रकार 6 आधार हुए – करना, कराना, समर्थन, मन, वचन और काया। इनमें प्रथम तीन (करना, कराना, समर्थन) तो कार्य करने के प्रकार हैं जिनको 'करण' कहते हैं तथा बाद के तीन (मन, वचन, काया) कर्त्ता अर्थात् करने वाले हैं, जिनको 'योग' कहते हैं।

किसी भी कार्य में कम–से–कम 1 करण तथा 1 योग अवश्य होते हैं तथा अधिकतम तीनों करण एवं तीनों योग हो सकते हैं। इनको आपस में मिलाने से कुल 49 प्रकार हो सकते हैं। इन प्रकारों, विकल्पों या व्यवस्थाओं को ही हम भंग या भांगे कहते हैं। गणित में इस प्रकार

विभिन्न विकल्प बनाने को क्रमचय एवं संचय (Permutation and combination) कहते हैं। इस व्यवस्था को समझने के लिए हम नौ संख्याओं का सहारा लेते हैं – 11, 12, 13, 21, 22, 23, 31, 32, 33। इनमें प्रत्येक संख्या 2 अंकों की है। प्रथम अंक करण के लिए तथा दूसरा अंक योग के लिए है। इनमें से प्रथम संख्या 11 को समझते हैं। 11 – एक करण, एक योग। इसके कुल 9 भंग बनते हैं।

करना	मन
कराना	वचन
अनुमोदना	काया

इसमें से दोनों तरफ से 1–1 लेना है। उसको हम निम्न प्रकार से ले सकते हैं –

1.	करना मन से	2.	करना वचन से	3.	करना काया से।
1.	कराना मन से	2.	कराना वचन से	3.	कराना काया से।
1.	अनुमोदना मन से	2.	अनुमोदना वचन से	3.	अनुमोदना काया से।

प्रत्याख्यान के सम्पूर्ण 49 भंग इस प्रकार है :–

अंक 11 के भंग 9 – एक करण व एक योग से कहना –

1	करूँ नहीं मन से	2	करूँ नहीं वचन से
3	करूँ नहीं काया से	4	कराऊँ नहीं मन से
5	कराऊँ नहीं वचन से	6	कराऊँ नहीं काया से
7	अनुमोदूँ नहीं मन से	8	अनुमोदूँ नहीं वचन से
9	अनुमोदूँ नहीं काया से		

अंक 12 के भंग 9 – एक करण व दो योग से कहना –

1	करूँ नहीं मन से, वचन से	2	करूँ नहीं मन से, काया से
3	करूँ नहीं वचन से, काया से	4	कराऊँ नहीं मन से, वचन से
5	कराऊँ नहीं मन से, काया से	6	कराऊँ नहीं वचन से, काया से
7	अनुमोदूँ नहीं मन से, वचन से	8	अनुमोदूँ नहीं मन से, काया से
9	अनुमोदूँ नहीं वचन से, काया से		

अंक 13 के भंग 3 – एक करण व तीन योग से कहना –

1 करूँ नहीं मन से, वचन से, काया से

2 कराऊँ नहीं मन से, वचन से, काया से

3 अनुमोदूँ नहीं मन से, वचन से, काया से

अंक 21 के भंग 9 – दो करण व एक योग से कहना –

1 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं मन से

2 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं वचन से

3 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं काया से

4 करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं मन से

5 करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं वचन से

6 करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं काया से

7 कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं मन से

8 कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं वचन से

9 कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं काया से

अंक 22 के भंग 9 – दो करण व दो योग से कहना –

1 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं मन व वचन से

2 करूँ नहीं, कराऊ नहीं मन व काया से

3 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं वचन व काया से

4 करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं मन व वचन से

5 करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं मन व काया से

6 करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं वचन व काया से

7 कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं मन व वचन से

8 कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं मन व काया से

9 कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं वचन व काया से

अंक 23 के भंग 3 – दो करण व तीन योग से कहना –

1 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं मन, वचन व काया से

2 करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं मन, वचन व काया से

3 कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं मन, वचन व काया से

अंक 31 के भंग 3 – तीन करण व एक योग से कहना –

1 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं अनुमोदूँ नहीं मन से

2 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं वचन से

3 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं काया से

अंक 32 के भंग 3 – तीन करण व दो योग से कहना –

1 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं मन व वचन से

2 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं मन व काया से

3 कराऊँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं वचन व काया से

अंक 33 के भंग 1 – तीन करण व तीन योग से कहना –

1 करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं मन से, वचन से व काया से

11, 12 और 21, 22 के नौ–नौ भंग है –	9 × 4	=	36
13, 23 और 31, 32 के तीन–तीन भंग है –	3 × 4	=	12
33 का एक भंग है –		=	1
			49 भंग

इनमें से ज्यादा प्रचलित निम्न चार भंग ही है :–

1) करूँ नहीं, काया से

(एक करण, एक योग – न करेमि, कायसा)

2) करूँ नहीं–मन, वचन, काया से

(एक करण, तीन योग – न करेमि, मणसा, वयसा, कायसा)

3) करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, मन, वचन, काया से

(दो करण, तीन योग – न करेमि, न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा)

4) करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूं नहीं, मन, वचन, काया से

(तीन करण, तीन योग – न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अण्णं ण समणुजाणामि, मणसा वयसा कायसा)

इस चार के अतिरिक्त शेष 45 भांगों का प्रचलन नहीं हैं। परन्तु 49 के 49 भांगों की जानकारी आवश्यक है।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि श्रावक के व्रत तो एक करण एक योग, एक करण तीन योग अथवा दो करण तीन योग से हो सकते हैं, जिनके कारण कुछ छूटें प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु साधु–साध्वी के व्रत तो महाव्रत होते हैं। वे तीन करण तीन योग से ही ग्रहण किये जाते हैं। उनमें किसी प्रकार की छूट की कोई गुंजाइश नहीं होती।

25. पच्चीसवें बोले : चारित्र पाँच

1. सामायिक चारित्र
2. छेदोपस्थापनीय चारित्र
3. परिहार–विशुद्धि चारित्र
4. सूक्ष्म संपराय चारित्र
5. यथाख्यात चारित्र।

चारित्र – मोक्ष की प्राप्ति के लिए, आत्मकल्याण के मार्ग पर चलने का नाम ही चारित्र है।

1. सामायिक चारित्र – 18 पापों का त्याग सामायिक है। श्रावक दो घड़ी (48 मिनट) के लिए अथवा कुछ अधिक समय के लिए, परन्तु साधु–साध्वी पूरे जीवन के लिए सामायिक अंगीकार करते हैं। साधु–समाज के लिए यही आचार–संहिता (Code of conduct) है। साधु दीक्षा लेते समय 'करेमि भंते' का पाठ उच्चारण करता है तथा 5 महाव्रतों की प्रतिज्ञा करता है। ऐसा करके वह सामायिक चारित्र ही अंगीकार करता है।

2. छेदोपस्थापनीय चारित्र – जैसे धान को एक स्थान से उखाड़कर, पुनः दूसरे स्थान पर रोपित करते हैं, उसी प्रकार सामायिक चारित्र को संशोधित करके छेदोस्थापनीय चारित्र दिया जाता है। पहले और चौबीसवें तीर्थंकरों के समय में ही यह चारित्र होता है। यह भी मूलतया तो सामायिक चारित्र ही है। सामायिक चारित्र पर, कुछ समय बाद, जब पक्की मोहर लग जाती हैं, तो छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाता है। इसे बड़ी दीक्षा भी कहते हैं। वर्तमान समय में यह व्यवस्था है कि नवदीक्षित साधु–साध्वी को प्रारम्भ में सामायिक चारित्र दिया जाता है, ताकि वह

साधु के नियम एवं व्यवस्थाओं को अच्छी तरह देख, परख और आजमा ले। इसका न्यूनतम काल 7 दिन, मध्यम 4 मास तथा अधिकतम 6 मास होता है। जब वह सक्षम दिखायी देता है, तो उसका सामायिक चारित्र वाला समय काटकर, नये सिरे से छेदोपस्थापनीय चारित्र दिया जाता है। अगर छह मास के काल में भी साधु सक्षम न दिखायी दे, तो गृहस्थ जीवन में वापस भेजा जा सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था बीच के 22 तीर्थंकरों (दूसरे से तेईसवें तक) के समय में नहीं होती। उस समय के मनुष्य इतने सरल एवं बुद्धिमान् होते हैं कि उन्हें प्रारम्भ से ही बड़ी दीक्षा दे दी जाती है। उनके चारित्र को सामायिक चारित्र ही कहते हैं। छेदोपस्थापनीय चारित्र दो प्रकार का होता है –

1. निरतिचार (बिना दोष के) 2. सातिचार (दोष के कारण)

ऊपर जो बड़ी दीक्षा की व्यवस्था समझाई गई है, वह निरतिचार है। अर्थात् नवदीक्षित साधु–साध्वी को छेदोपस्थापनीय चारित्र देते समय उनका सामायिक चारित्र का जो समय काटा जाता है, वह उनके द्वारा लगाये गये किसी दोष के कारण नहीं काटा जाता, अपितु यह एक व्यवस्था है। जब किसी साधु–साध्वी द्वारा, अपने व्रतों में कोई गम्भीर दोष लगा दिये जाने पर, दण्ड–स्वरूप उसकी दीक्षा का कुछ समय काट दिया जाता है, तब दण्ड के रूप में दीक्षा–समय काटने को सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।

3. परिहार–विशुद्धि चारित्र – परिहार अर्थात् संघ व्यवस्था से अलग रहकर, विशुद्धि अर्थात् आत्मा का विशेष शोधन करने वाला चारित्र। जिस प्रकार पर्वतारोही दल आम आदमियों में से निकलकर अपने कुछ अधिक साहस (Adventure) एवं शक्ति के कारण ऊँचे पर्वत–शिखरों का आरोहण करके, पुनः धरातल पर आ जाते हैं। उसी प्रकार विशिष्ट शक्ति वाले साधु, अपना

अतिरिक्त दल बनाकर, कुछ समय के लिए संघ एवं समाज से पृथक् होकर, विशिष्ट कोटि की साधना कर, वापस संघ में लौट आते हैं। उनकी इस साधना या चारित्र का नाम 'परिहार–विशुद्धि चारित्र' है।

4. सूक्ष्म संपराय चारित्र – दसवें गुणस्थान (सूक्ष्म संपराय गुणस्थान) के चारित्र को सूक्ष्म संपराय चारित्र कहते हैं। जैसे किसी मकान को झाड़ू देकर साफ करने के बाद, उसमें सूक्ष्म धूल ही बाकी रह जाती है, इसी प्रकार जिस समय सूक्ष्म लोभ के अतिरिक्त बाकी सब कषाय एवं मोहनीय कर्म की सभी प्रवृत्तियाँ, पूर्णरूप से नष्ट या दब चुकी होती हैं, उस समय की अवस्था को चारित्र की दृष्टि से सूक्ष्म संपराय चारित्र कहा जाता है। गुणस्थान की दृष्टि से यह सूक्ष्म संपराय गुणस्थान कहा जाता है।

5. यथाख्यात चारित्र – यथा–जिस प्रकार, आख्यात – सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है, उस पूर्णरूपेण कषाय–रहित अवस्था को प्राप्त कर लेना यथाख्यात चारित्र कहलाता है। इस चारित्र को वीतराग चारित्र भी कहते हैं। यह ग्यारहवें गुणस्थान (उपशांत मोहनीय) से प्रारम्भ होता है और 14वें गुणस्थान–पर्यन्त बना रहता है। हां, 11वें गुणस्थान वाला जीव अवश्यमेव नीचे की ओर गिरता है, क्योंकि उसने मोहनीय कर्म को नष्ट न करके, पूरी तरह दबाया था। अब वह दबा हुआ मोहनीय कर्म अपना खेल दिखाकर, जीव को पटकनी देकर, नीचे गिरा देता है। परन्तु मोहनीय कर्म को दबाने की बजाय, नष्ट करते हुए आगे बढ़ने वाला जीव, दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है और आगे बढ़ता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

जैसाकि चारित्र की परिभाषा में बताया था कि मोक्ष–मंजिल की प्राप्ति के लिए आत्मकल्याण के मार्ग पर चलने का नाम चारित्र है। अब जीव को मंजिल प्राप्त हो गयी, तो चलने का कोई प्रयोजन नहीं। अतः मोक्ष–प्राप्ति के बाद चारित्र समाप्त हो जाता है। इसीलिये सिद्धों में 5 चारित्र में से कोई भी चारित्र नहीं पाया जाता।

"णमो सिद्धाणं"

हमारी गुरु-परम्परा

आचार्य श्री लव जी ऋषि जी म.सा. <...

आचार्य श्री अमर सिंह जी म.सा. <...

आचार्य श्री रामबक्श जी म.सा. <...

तपस्वी श्री नीलोपत जी म.सा. <...

तपस्वी श्री हरनाम दास जी म.सा. <...

संयम-सुमेरु श्री मयाराम जी म.सा. <...

गणावच्छेदक श्री छोटे लाल जी म.सा. <...

बहुसूत्री श्री नाथू लाल जी म.सा. <...

व्याख्यान-वाचस्पति श्री मदन लाल जी म.सा. <...

संघ-शास्ता गुरुदेव श्री सुदर्शन लाल जी म.सा. <...

संघ-नायक शास्त्री श्री पद्म चन्द्र जी म.सा. <...

संघ-संचालक श्री नरेश मुनि जी म.सा.।

: मुद्रक :

सिस्टम्स् विज़न, नई दिल्ली
मोबाइलः 9810212565
Email: systemsvision96@gmail.com

प्रचार - सौजन्य

जय जिनशासन प्रकाशन
120/H-32, Sector 3, Rohini, Delhi-110085
राधेश्याम जैन, मो:9899635599 • रविन्द्र जैन, मो:9810287446
Email: jaijinshaasanprakaashan@gmail.com

अहिंसा परमो धर्मः

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

नवकार महामन्त्र

नमो अरिहंताणं

नमो सिद्धाणं

नमो आयरियाणं

नमो उवज्झायाणं

नमो लोए सव्व साहूणं

एसो पंच नमोक्कारो, सव्व पाव-पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढ़मं हवइ मंगलं।।

✡श्री सुदर्शन गुरवे नमः✡